श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

स्वयम्भू-स्तोत्र

अनुवादादि-सहित

—:※:○:※:—

१

श्रीवृषभ-जिन-स्तवन

-:-※※※※-:-

स्वयम्भुवा भूत-हितेन भूतले
समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

'जो स्वयम्भू थे—स्वयं ही, बिना किसी दूसरेके उपदेशके, मोक्ष-मार्गको जानकर तथा उसका अनुष्ठान करके आत्म-विकासको प्राप्त हुए

थे—प्राणियोंके हितकी—संसारी जीवोंके आत्मकल्याणकी—भावना एवं परिणतिसे युक्त साक्षात् भूतहितकी मूर्ति थे, सम्यग्ज्ञान-की विभूतिरूप—सर्वज्ञतामय—(अद्वितीय) नेत्रके धारक थे, और अपने गुणसमूहरूप-हार्थोंसे—अबाधितत्त्व और यथावस्थित अर्थ-प्रकाशकत्व आदि गुणोंके समूहवाले वचनोंसे—अन्धकारको—जगतके भ्रान्ति एवं दुःख-मूलक अज्ञानको—दूर करते हुए, पृथ्वीतलपर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि अपनी अर्थ-प्रकाशकत्वादिगुण-विशिष्ट किरणोंसे रात्रिके अन्धकारको दूर करता हुआ पूर्ण-चन्द्रमा सुशोभित होता है।'

> प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
> शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
> प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो
> ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

'जिन्होंने, (वर्तमान अवसर्पिणी कालके) प्रथम प्रजापतिके रूपमें देश, काल और प्रजा-परिस्थितिके तत्त्वोंको अच्छी तरहसे जानकर, जीनेकी—जीवनोपायको जाननेकी—इच्छा रखनेवाले प्रजाजनोंको सबसे पहले कृषि आदि कर्मोंमें शिक्षित किया—उन्हें खेती करना, शस्त्र चलाना, लेखन-कार्य करना, विद्या-शास्त्रोंको पढ़ना, दस्तकारी करना तथा वनज-व्यापार करना सिखलाया—; और फिर हेयोपादेय तत्त्वका विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यकारी उदय (उत्थान अथवा प्रकाश) को प्राप्त होते हुए जो ममत्वसे ही विरक्त होगये—प्रजाजनों, कुटुम्बीजनों, स्वशरीर तथा भोगोंसे ही जिन्होंने ममत्व-बुद्धि (आसक्ति) को हटा लिया। और इस तरह जो तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हुए।'

विहाय यः सागर-वारि-वाससं
वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

'**जो मुमुक्षु थे**—मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अथवा संसार-समुद्रसे पार उतरनेके अभिलाषी थे—, **आत्मवान् थे**—इन्द्रियोंको स्वाधीन रखने वाले आत्मवशी थे—, **और** (इसलिये) **प्रभु थे**—स्वतंत्र थे । **जिन** (विरक्त हुए) **इक्ष्वाकु-कुलके आदिपुरुषने, सती वधूको**—अपने ऊपर एक निष्ठासे प्रेम रखनेवाली सुशीला महिलाको—**और उसी तरह इस सागर-वारि-वसना वसुधावधूको**—सागरका जल ही है वस्त्र जिसका ऐसी स्वभोग्या समुद्रान्त पृथ्वीको—**भी, जो कि** (युगकी आदिमें) **सती—सुशीला थी**—अच्छे सुशील पुरुषोंसे आबाद थी—, **त्याग करके दीक्षा धारण की** । (दीक्षा धारण करनेके अनन्तर) **जो सहिष्णु हुए**—भूख-प्यास आदिकी परीषहोंसे अजेय रहकर उन्हें सहनेमें समर्थ हुए—, **और** (इसीलिये) **अच्युत रहे**—अपने प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञारूप परिणत) व्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं हुए । (जबकि दूसरे कितने ही मातहत राजा, जिन्होंने स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर आपके देखादेखी दीक्षा ली थी, मुमुक्षु, आत्मवान् , प्रभु तथा सहिष्णु न होनेके कारण, अपने प्रतिज्ञात व्रतोंसे च्युत और भ्रष्ट होगये थे)।'

स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम् ।

जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा
बभूव च ब्रह्म-पदाऽमृतेश्वरः ॥४॥

'(तपश्चरण करते हुए) **जिन्होंने अपने आत्मदोषोंके**—आत्म-सम्बन्धी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिविकारोंके—**मूलकारणको**—घातिकर्मचतुष्टयको—**अपने समाधि-तेजसे**—शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निसे—**निर्दयतापूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया। तथा** (ऐसा करनेके अनन्तर) **जिन्होंने तत्त्वाभिलाषी जगतको तत्त्वका सम्यक् उपदेश दिया**—जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया। **और** (अन्तको) **जो ब्रह्मपदरूपी अमृतके**—स्वात्मस्थितिरूप मोक्ष-दशामें प्राप्त होनेवाले अविनाशी अनन्त सुखके—**ईश्वर हुए**—स्वामी बने।'

स विश्व-चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां
समग्र-विद्याऽऽत्म-वपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभि-नन्दनो
जिनोऽ†जित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ॥५॥

'(इस तरह) **जो सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओंको जीतकर 'जिन' हुए, जिनका शासन क्षुल्लकवादियोंके**—अनित्यादि सर्वथा एकान्त पक्षका प्रतिपादन करनेवाले प्रवादियोंके—**द्वारा अजेय था, और जो सर्वदर्शी हैं, सर्वविद्यात्मशरीरी हैं**—पुद्गलपिण्डमय शरीरके अभावमें जीवादि सम्पूर्ण पदार्थोंको अपना साक्षात विषय करनेवाली केवलज्ञानरूप पूर्ण-विद्या (सर्वज्ञता) ही जिनका आत्मशरीर है—, **जो सत्पुरुषोंसे पूजित हैं, और निरञ्जन पदको प्राप्त हैं**—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि

† 'जित-क्षुल्लक-वादि-शासनः' इति पाठान्तरम्।

नोकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्मरूपी त्रिविध कर्म-कालिमासे सर्वथा रहित होकर आवागमनसे विमुक्त हो चुके हैं—, वे (उक्त गुण-विशिष्ट) **नाभिनन्दन**—चौदहवें कुलकर (मनु) श्रीनाभिरायके पुत्र—**श्रीवृषभदेव**—धर्मतीर्थके आद्य-प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर श्रीआदिनाथ भगवान्—**मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें**—उनके स्तवन एवं स्वरूप-चिन्तनके प्रसादसे मेरे हृदयको कलुषित तथा मलिन करनेवाली कषाय-भावनाएँ शान्त होजायँ।'

२

श्रीअजित-जिन-स्तवन

यस्य प्रभावात् त्रिदिव-च्युतस्य
क्रीडास्वपि क्षीबमुखाऽरविन्दः।
अजेय-शक्तिर्भुवि बन्धु-वर्गश्चकार
नामाऽजित इत्यबन्ध्यम् ॥ १ ॥

'जो देवलोकसे अवतरित हुए थे और इतने प्रभावशाली थे कि उनकी क्रीडाओंमें—बाल-लीलाओंमें—भी उनका बन्धुवर्ग—कुटुम्बसमूह—हर्षोन्मत्त-मुखकमल होजाता था, तथा जिनके माहात्म्यसे वह बन्धुवर्ग पृथ्वीपर अजेय-शक्तिका धारक हुआ—उसे कोई भी जीत नहीं सका—और (इसलिये) उस बन्धुवर्गने जिनका 'अजित'† ऐसा सार्थक अथवा अन्वर्थक नाम रक्खा।'

---

† 'न केनचिज्जीयते (अन्तरंगैर्बाह्यैश्च शत्रुभिर्न जीयते वा) इत्यजितः अतएव अवन्ध्यमन्वर्थम्।' —प्रभाचन्द्रः

अद्याऽपि यस्याऽजितशासनस्य
सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परम-पवित्रं
स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥ २ ॥

'जिनका शासन—अनेकान्तमत—अजेय था—सर्वथा एकान्तमतावलम्बी परवादीजन जिसे जीतनेमें असमर्थ थे—और जो सत्पुरुषोंके—भव्यजनोंके—प्रधान नेता थे—उन्हें आत्मकल्याणके समीचीन मार्गमें प्रवृत्त करानेवाले थे—उन अजित तीर्थङ्करका परमपवित्र—पापक्षयकारक और पुण्यवर्धक—नाम आज भी—असंख्यात काल बीत जानेपर भी—लोकमें अपनी इष्टसिद्धिरूप विजयके इच्छुक जनसमूहके द्वारा प्रत्येक मंगलके लिये—अपनी किसी भी इष्टसिद्धिके निमित्त—सादर ग्रहण किया जाता है—भव्यजनोंकी दृष्टिमें वह बराबर महत्त्व-पूर्ण बना हुआ है।'

यः प्रादुरासीत्प्रभु-शक्ति-भूम्ना
भव्याऽऽशयालीन-कलङ्क-शान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्त-घनोपदेहो
यथाऽरविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान् ॥ ३ ॥

'घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप उपलेपसे मुक्त जो महामुनि (गणधरादि-मुनियोंके अधिपति) भव्यजनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलङ्कोंकी—अज्ञानादि-दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि-कर्मोंकी—शान्तिके लिये—उन्हें समूल नष्ट कर भव्यजनोंका आत्म-विकास सिद्ध करनेके लिये—जगत्का उपकार करनेमें समर्थ अपनी वचनादि

शक्तिकी सम्पत्तिके साथ उसी प्रकार प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिये—उनके अन्तः अन्धकारको दूर कर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी प्रकाशमय समर्थ शक्ति-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है।'

येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं ज्येष्ठं
जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन-पङ्क-शीतं
गज-प्रवेका इव घर्म-तप्ताः ॥ ४ ॥

'(उक्त प्रकारसे प्रादुर्भूत होकर) जिन्होंने उस धर्मतीर्थका—सम्यग्दर्शनादि-रत्नत्रय, उत्तमक्षमादि-दशलक्षण और सामायिकादि-पंच प्रकार चारित्र-धर्मके प्रतिपादक आगमतीर्थका—प्रणयन किया—प्रकाशन किया—जो महान है—सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूप-प्रतिपादनकी दृष्टिसे विशाल है—, ज्येष्ठ है—समस्त धर्मतीर्थोंमें प्रधान है—और जिसका आश्रय पाकर भव्यजन (संसार-परिभ्रमण-जन्य) दुःख-सन्तापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं—उससे छूट जाते हैं—जिस प्रकार कि ग्रीष्मकालीन सूर्यके आतापसे सन्तप्त हुए बड़े बड़े हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गङ्गाद्रहको प्राप्त होकर अथवा गंगाके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्यके आतापजन्य दुःखको मिटा डालते हैं।'

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-
र्विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः ।

लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा
जिन-श्रियं † मे भगवान् विधत्ताम् ॥५॥(१०)

'**जो ब्रह्मनिष्ठ थे**—अनन्य-श्रद्धाके साथ आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा किये हुए थे—, (इसीसे) **सम-मित्र-शत्रु थे**—मित्र और शत्रुमें कोई भेद-भाव न करके उन्हें आत्मदृष्टिसे समान अवलोकन करते थे—. **आत्मीय कषाय-दोषोंको जिन्होंने सम्यग्ज्ञानाऽनुष्ठानरूप विद्याके द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया था**—आत्मापरसे उनके आधिपत्यको बिल्कुल हटा दिया था—,(और इसीसे) **जो लब्धात्मलक्ष्मी हुए थे**—अनन्तज्ञानादि आत्मलक्ष्मीरूप जिनश्रीको जिन्होंने पूर्णतया स्वाधीन किया था—; (इस प्रकारके गुणोंसे विभूषित) **वे अजितात्मा**—इन्द्रियोंके आधीन न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित—**भगवान् अजित-जिन मेरे लिये जिन-श्रीका**—शुद्धात्म-लक्ष्मीकी प्राप्तिका—**विधान करें**। अर्थात् मैं, उनके आराधन-भजन-द्वारा उन्हींका आदर्श सामने रखकर, अपनी आत्माको कर्म-बन्धनसे छुड़ाता हुआ पूर्णतया स्वाधीन करनेमें समर्थ होऊँ, और इस तरह जिन-श्रीको प्राप्त करनेमें वे मेरे सहायक बनें।'

† 'जिनः श्रियं' इति पाठान्तरम्।

३

श्रीशम्भव-जिन-स्तवन

त्वं शम्भवः † सम्भव-तर्ष-रोगैः
सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाऽऽकस्मिक एव वैद्यो
वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

'(अन्वर्थ-संज्ञाके धारक ‡) हे शम्भव-जिन ! सांसारिक तृष्णा-रोगोंसे प्र-पीडित जनसमूहके लिये आप इस लोकमें उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार कि अनाथोंके—द्रव्यादि-सहाय-विहीनोंके—रोगोंकी शान्तिके लिये कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है—और अपने लिये चिकित्साके फलस्वरूप धनादिकी कोई अपेक्षा न रखकर उन गरीबोंकी चिकित्सा करके उन्हें नीरोग बनानेका पूर्ण प्रयत्न करता है।'

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः
प्रसक्त-मिथ्याऽध्यवसाय-दोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जराऽन्तकार्त्तं
निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥

---

† 'संभवः' इति पाठान्तरम् ।

‡ 'शम्भव इत्यन्वर्थेयं संज्ञा । शं सुखं भवत्यस्माद्भव्यानां इति शम्भवः—(जिनसे भव्योंको सुख होवे वे 'शम्भव') ।' —प्रभाचन्द्राचार्य

'यह (दृश्यमान) जगत, जो कि अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न मिथ्या अभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीडित है, उसको (हे शम्भवजिन !) आपने निरञ्जना—कर्म-मलके उपद्रवसे रहित मुक्ति-स्वरूपा—शान्तिकी प्राप्ति कराई है—उसे उस शान्तिके मार्गपर लगाया है जिसके फलस्वरूप कितनोंने ही चिर-शान्तिकी प्राप्ति की है।'

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं
तृष्णाऽऽमयाऽप्यायन-मात्र-हेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

'आपने पीडित जगतको उसके दुःखका यह निदान बतलाया है कि—इन्द्रिय-विषय-सुख बिजलीकी चमकके समान चञ्चल है—क्षणभर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है—और तृष्णारूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है—, तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषि-वाणिज्यादि-कर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःख-परम्परासे पीडित करता रहता है।'

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू*
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

---

* 'हेतुः' इति पाठन्तरम् ।

'बन्ध, मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण, बद्ध और मुक्त तथा मुक्तिका फल, इन सब बातोंकी व्यवस्था हे नाथ! आप स्याद्वादी-अनेकान्तदृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है, एकान्तदृष्टियोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—मतोंमें नहीं। अतएव आप ही 'शास्ता'—तत्त्वोपदेष्टा—हैं। दूसरे कुछ मतोंमें ये बातें ज़रूर पाई जाती हैं, परन्तु कथनमात्र हैं, एकान्त-सिद्धान्तको स्वीकृत करनेसे उनके यहाँ बन नहीं सकतीं; और इसलिये उनके उपदेष्टा ठीक अर्थमें 'शास्ता' नहीं कहे जा सकते।'

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः
स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथाऽपि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो
ममार्य! देयाः शिवतातिमुच्चैः† ॥५॥ (१५)

'हे आर्य!—गुणों तथा गुणवानोंके द्वारा सेव्य शम्भव जिन!—आप पुण्यकीर्ति हैं—आपकी कीर्ति-ख्याति तथा जीवादि पदार्थोंका कीर्तन-प्रतिपादन करनेवाली वाणी पुण्या-प्रशस्ता है—निर्मल है—, आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ शक्र—अवधिज्ञानादिकी शक्तिसे सम्पन्न इन्द्र—भी अशक्त रहा है—पूर्णरूपसे स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका है—, फिर मेरे जैसा अज्ञानी—अवधि आदि विशिष्टज्ञानरहित प्राणी—तो कैसे समर्थ हो सकता है? परन्तु असमर्थ होते हुए भी मेरे द्वारा आपके पदकमल भक्तिपूर्वक—पूर्णअनुरागके साथ—स्तुति किये गये हैं। (अतः) आप मुझे ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति प्रदान करें अर्थात् मेरे लिये ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति—कल्याणपरम्परा—देय है—मैं उसको प्राप्त करनेका पात्र हूँ, अधिकारी हूँ।'

---

† 'देया शिवतातिरुच्चैः', यह पाठ अधिक संगत जान पड़ता है।

४

श्रीअभिनन्दन-जिन-स्तवन

गुणाऽभिनन्दादभिनन्दनो भवान्
दया-वधूं क्षान्ति-सखीमशिश्रियत् ।
समाधि-तन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन
नैर्ग्रन्थ्य-गुणेन चाऽयुजत् ॥ १ ॥

'(हे अभिनन्दन जिन!) गुणोंकी अभिवृद्धिसे—आपके जन्म लेते ही लोकमें सुख-सम्पत्त्यादिक गुणोंके बढ़ जानेसे—आप 'अभिनन्दन' इस सार्थक संज्ञाको प्राप्त हुए हैं। आपने क्षमा-सखीवाली दयावधू-को अपने आश्रयमें लिया है—दया और क्षमा दोनोंको अपनाया है—और समाधिके—शुक्लध्यानके—लक्ष्यको लेकर उसकी सिद्धिके लिये आप उभय प्रकारके निर्ग्रन्थत्वके गुणसे युक्त हुए हैं—आपने बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग किया है।'

अचेतने तत्कृत-बन्धजेऽपि च
ममेदमित्याभिनिवेशिक-ग्रहात् ।
प्रभंगुरे स्थावर-निश्चयेन च
क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥ २ ॥

'अचेतन-शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्मवश बन्ध है उससे उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमें 'यह मेरा है-मैं इसका

हूँ' इस प्रकारके अभिनिवेश(मिथ्या अभिप्राय)को लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वका निश्चय कर लेनेके कारण जो जगत् नष्ट होरहा है—आत्महित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है—उसे (हे अभिनन्दन जिन !) आपने तत्त्वका ग्रहण कराया है—जीवादि-तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको बतलाकर सन्मार्ग-पर लगाया है।'

क्षुदादि-दुःख-प्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थ-प्रभवाऽल्प-सौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देह-देहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥ ३ ॥

'क्षुधादि-दुखोंके प्रतिकारसे—भूख-प्यास आदिकी वेदनाको मिटानेके लिये भोजन-पानादिका सेवन करनेसे—और इन्द्रियविषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक सदा अवस्थान नहीं बनता—थोड़ी ही देरकी तृप्तिके बाद भूख-प्यासादिककी वेदना फिर उत्पन्न होजाती है और इन्द्रिय-विषयोंके सेवनकी लालसा अग्निमें ईंधनके समान तीव्रतर होकर पीड़ा उत्पन्न करने लगती है। ऐसी हालतमें क्षुधादि:दुखोंके इस क्षणस्थायी प्रतीकार और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प-सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है; इस प्रकारकी विज्ञापना हे भगवन् ! आपने इस (भ्रमके चक्करमें पड़े हुए) जगतको की है—उसे तत्त्वका ग्रहण कराते हुए रहस्यकी यह सब बात समझाई है, जिससे आसक्ति छूट कर परम कल्याणकारी अनासक्त-योगकी ओर प्रवृत्ति होसके।'

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाऽप्यमुत्राऽप्यनुबन्धदोषवित्
कथं सुखे संसजतीति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

'आपने जगत्को यह भी बतलाया है कि अनुबन्ध-दोषसे—परमासक्तिके वश—विषय-सेवनमें अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोकमें राजदण्डादिका भय उपस्थित होनेपर अकार्योंमें—परस्त्रीसेवनादि जैसे कुकर्मोंमें—प्रवृत्त नहीं होता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें होनेवाले विषयासक्तिके दोषोंको—भयंकर परिणामोंको—भलेप्रकार जानता है वह कैसे विषय-सुखमें आसक्त होसकता है ?—नहीं हो सकता ।—अत्यासक्तिके इस लोक और पर-लोक-सम्बन्धी भयंकर परिणामोंका स्पष्ट अनुभव न होना ही विषय-सुखमें आसक्तिका कारण है । अतः अनुबन्धके दोषको जानना चाहिये ।'

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं
ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥ (२०)

'वह अनुबन्ध—आसक्तपन—और (विषयसेवनसे उत्पन्न होने-वाली) तृष्णाकी अभिवृद्धि—उत्तरोत्तर विषय-सेवनकी आकांक्षा—इस लोलुपी प्राणीके लिये तापकारी (कष्टप्रद) है—इच्छित वस्तुके न मिलनेपर उसकी प्राप्तिके लिये और मिल जानेपर उसके संरक्षणादिके अर्थ संतापकी परम्परा बराबर चालू रहती है—दुःखकी जननी चिन्ताएँ-

आकुलताएँ सदा घेरे रहती हैं। संताप-परम्पराके बराबर चालू रहनेसे प्राप्त हुए थोड़ेसे इन्द्रिय-विषय-सुखसे इस प्राणीकी स्थिति सुख-पूर्वक नहीं बनती। इस प्रकार लोकहितके प्रतिपादनको लिए हुए चूँकि आपका मत है—शासन है—इस लिये हे अभिनन्दन प्रभु! आप ही जगत्के शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषोंने—मुक्तिके अर्थी विवेकी जनोंने—माना है।'

५

श्रीसुमति-जिन-स्तवन

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं
स्वयं मतं येन सुयुक्ति-नीतम्।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति
सर्व-क्रिया-कारक-तत्त्व-सिद्धिः ॥ १ ॥

'हे सुमति मुनि! आपकी 'सुमति' (श्रेष्ठ-सुशोभन-मति) यह संज्ञा अन्वर्थक है—आप यथा नाम तथा गुण हैं—; क्योंकि एक तो आपने स्वयं ही—बिना किसीके उपदेशके—सुयुक्तिनीत तत्त्वको माना है—उस अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको अंगीकार किया है जो अकाट्य युक्तियोंके द्वारा प्रणीत और प्रतिष्ठित है—; दूसरे आपके (अनेकान्त) मतसे भिन्न जो शेष एकान्त मत हैं उनमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी

उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति—नहीं बनती। (कैसे नहीं बनती, यह बात 'सुयुक्तिनीत-तत्त्व' को स्पष्ट करते हुए अगली कारिकाओंमें बतलाई गई है)।'

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं
भेदाऽन्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे
तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२२॥

'वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है—भेदज्ञानकी–पर्यायकी–दृष्टिमें अनेकरूप है तो वही अभेदज्ञानकी–द्रव्यकी–दृष्टिसे एकरूप है—और यह वस्तुको भेद-अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है—प्रमाण है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि (दोनोंका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध होनेसे) दोनोंमेंसे एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। दोनोंका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य–निःस्वभाव हो जाता है—और तब वह न तो एकरूप रहता है और न अनेकरूप। स्वभावका अभाव होनेसे उसे किसी रूपमें कह नहीं सकते, और इससे सम्पूर्ण व्यवहारका ही लोप ठहरता है।'

सतः कथञ्चित्तदसत्त्व-शक्तिः
खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्व-स्वभाव-च्युतमप्रमाणं
स्व-वाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ २३ ॥

'जो सत् है—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे विद्यमान है—उसके

कथंचित् असत्वशक्ति भी होती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा वह असत् है—; **जैसे पुष्प वृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्-रूप है**—यदि पुष्प-वस्तु सर्वथा सत्रूप हो तो आकाशके भी पुष्प मानना होगा और यदि सर्वथा असत्रूप हो तो वृक्षोंपर भी उसका अभाव कहना होगा। परन्तु यह मानना और कहना दोनों ही प्रतीतिके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं हैं। इसपरसे यह फलित होता है कि वस्तु-तत्त्व कथंचित् सत्रूप और कथंचित् असत्रूप है—स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी अपेक्षा जहाँ सत्स्वरूप है वहाँ पर-द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्रूप भी है। किसी भी वस्तुके स्वरूपकी प्रतिष्ठा उस वक्त तक नहीं बन सकती जब तक कि उसमेंसे पररूपका निषेध न किया जाय। आम्र-फलको अनार, सन्तरा या अंगूर क्यों नहीं कहते? इसी लिये न कि उसमें अनारपन, सन्तरापन, तथा अंगूरपन नहीं है—वह अपनेमें उनके स्वरूप-का प्रतिषेधक है। जो अपनेमें पररूपका प्रतिषेधक नहीं वह स्व-स्वरूपका प्रस्थापक भी नहीं हो सकता। इसीसे प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व और नास्ति-तत्व दोनों धर्म होते हैं और वे परस्पर अविनाभावी होते हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव बन नहीं सकता।

यदि वस्तुतत्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय—उसमें अस्ति-त्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मोंका सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाय—तो वह **अप्रमाण ठहरता है**—उस तत्त्वका तब कोई व्यवस्थापक नहीं रहता। **इसीसे** (हे सुमति जिन!) **आपकी दृष्टिसे सर्व-जीवादि तत्त्व कथंचित् सत्-असत्रूप अनेकान्तात्मक हैं। इस मतसे भिन्न**—दूसरा सत्त्वाद्वैतलक्षण अथवा शून्यतैकान्तस्वभावरूप जो एकान्त तत्त्व है—मत है—**वह स्ववचनविरुद्ध है**—उसकी प्रमाणता बतलानेमें प्रमाण-

की सत्ता स्वीकार करनेसे उस मतके प्रतिपादकोंके 'मेरी माँ बाँझ' की तरह-स्ववचन-विरोध आता है, अर्थात् सत्वाद्वैतवादियोंके द्वैतापत्ति होकर उनकी अद्वैतता भंग हो जाती है और शून्यतैकान्तवादियोंके प्रमाणका अस्तित्व होकर सर्वशून्यता बनी नहीं रहती—विघट जाती है। और प्रमाणका अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण बन नहीं सकता—वह निराधार ठहरता है।'

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति
न च क्रिया-कारकमत्र युक्तम् ।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ ४ ॥

'यदि वस्तु **सर्वथा**—द्रव्य और पर्याय दोनों रूपसे—**नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती**—उसमें उत्तराकारके स्वीकाररूप उत्पाद और पूर्वाकारके परिहाररूप व्यय नहीं बन सकता। **और न उसमें क्रिया-कारककी ही योजना बन सकती है**—वह न तो चलने-ठहरने जीर्ण होने आदि किसी भी क्रियारूप परिणमन कर सकती है और न कर्ता-कर्मादिरूपसे किसीका कोई कारक ही बन सकती है—उसे सदा सर्वथा अटल अपरिवर्तनीय एकरूप रहना होगा, जो असंभव है। (इसी तरह) **जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता।** (यदि यह कहा जाय कि विद्यमान दीपकका—दीप-प्रकाशका—तो बुझनेपर अभाव हो जाता है, फिर यह कैसे कहा जाय कि सतका नाश नहीं होता?' इसका उत्तर यह है कि) **दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना**

अस्तित्व रखता है—प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं, एक पर्यायके अभावमें दूसरी पर्यायकी स्थिति बनी रहती है, वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं होता।'

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं
मति-प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ! ॥५॥ (२५)

'(वास्तवमें) **विधि और निषेध**—अस्तित्व और नास्तित्व—**दोनों कथंचित् इष्ट हैं**—सर्वथा रूपसे मान्य नहीं। **विवक्षासे उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है**—उदाहरणके तौरपर द्रव्यदृष्टिसे जब नित्यत्व प्रधान होता है तो पर्यायदृष्टिका विषय अनित्यत्व गौण होजाता है और पर्यायदृष्टि-मूलक अनित्यत्व जब मुख्य होता है तब द्रव्यदृष्टिका विषय नित्यत्व गौण हो जाता है।

इस प्रकारसे हे सुमति जिन! आपका यह तत्त्व-प्रणयन है। इस तत्त्व-प्रणयनके द्वारा आपकी स्तुति करनेवाले मुझ स्तोता (उपासक) **की मतिका उत्कर्ष होवे**—उसका पूर्ण विकास होवे।

भावार्थ—यहाँ स्वामी समन्तभद्रने सुमतिदेवका, उनके मति-प्रवेकको लक्ष्यमें रखकर, स्तवन करके यह भावना की है कि उस प्रकारके मति-प्रवेकका—ज्ञानोत्कर्षका—मेरे आत्मामें भी आविर्भाव होवे। सो ठीक ही है, जो जैसा बनना चाहता है वह तद्गुण-विशिष्टकी उपासना किया करता है, और उपासनामें यह शक्ति है कि वह भव्य-उपासकको तद्रूप बनाती है; जैसे तेलसे भीगी हुई बत्ती जब दीपककी उपासना करती है—तद्रूप होनेके लिये जब पूर्ण तन्मयताके साथ दीपकका आलिङ्गन करती

है—तो वह भिन्न होते हुए भी तद्रूप होजाती है—स्वयं वैसी ही दीप-शिखा बन जाती है* ।

६

श्रीपद्मप्रभ-जिन-स्तवन

—*:*:*:*—

पद्मप्रभः पद्म-पलाश-लेश्यः
पद्मालयाऽऽलिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्य-पयोरुहाणां
पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥

'पद्म-पत्रके समान द्रव्यलेश्याके—रक्तवर्णाभ-शरीरके—धारक (और इसलिये अन्वर्थसंज्ञक) हे पद्मप्रभ जिन ! आपकी (आत्मस्वरूप तथा शरीररूप) सुन्दरमूर्ति पद्मालया—लक्ष्मीसे आलिङ्गित रही है—आत्मस्वरूप मूर्तिका अनन्तज्ञानादि-लक्ष्मीने तथा शरीररूप मूर्तिका निःस्वेदतादि-लक्ष्मीने दृढ़ आलिंगन किया है, और इस तरह आपकी उभय प्रकारकी मूर्ति उभय प्रकारकी लक्ष्मीके (शोभाके) साथ तन्मयताको प्राप्त हुई है। और आप भव्यरूप कमलोंको विकसित करनेके लिये—

*इसी भावको श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'समाधितंत्र'की निम्न कारिकामें व्यक्त किया है-

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ६७ ॥

उनका आत्मविकास करनेके लिये—उसी तरह भासमान हुए हैं जिस तरह कि पद्मबन्धु-सूर्य पद्माकरोंका—कमलसमूहोंका—विकास करता हुआ सुशोभित होता है।'

बभार पद्मां च सरस्वतीं च
भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः।
सरस्वतीमेव समग्र-शोभां
सर्वज्ञ-लक्ष्मी-ज्वलितां* विमुक्तः ॥२॥

'आपने प्रतिमुक्ति-लक्ष्मीकी प्राप्तिके पूर्व—अर्हन्त-अवस्थासे पहले—लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको धारण किया है—उस समय गृहस्थावस्थामें आप यथेच्छ धन-सम्पत्तिके स्वामी थे, आपके यहाँ लक्ष्मीके अटूट भण्डार भरे थे, साथ ही अवधि-ज्ञानादि-लक्ष्मीसे भी विभूषित थे और सरस्वती आपके कण्ठमें स्थित थी। बादको विमुक्त होनेपर—जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्थाको प्राप्त करनेपर—आपने उस पूर्ण शोभा-वाली सरस्वतीको—दिव्य वाणीको—ही धारण किया है जो सर्वज्ञ-लक्ष्मीसे प्रदीप्त थी—उस समय आपके पास दिव्यवाणीरूप सरस्वतीकी ही प्रधानता थी, जिसके द्वारा जगतके जीवोंको उनके कल्याणका मार्ग सुझाया गया है।'

शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते
बालार्क-रश्मिच्छविराऽऽलिलेप।
नराऽमराऽऽकीर्ण-सभां प्रभा वा
शैलस्य† पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥

---

*'लक्ष्मीं ज्वलितां' इति पाठान्तरम्। †'प्रभावच्छैलस्य' इति पाठान्तराम्।

'हे प्रभो ! प्रातःकालीन सूर्य-किरणोंकी छविके समान—रक्तवर्ण आभाको लिये हुए—आपके शरीरकी किरणोंके प्रसार (फैलाव) ने मनुष्यों तथा देवताओंसे भरी हुई समवसरण-सभाको इस तरह आलिप्त (व्याप्त) किया है जिस तरह कि पद्माभमणि-पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है।'

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं
सहस्रपत्राऽम्बुज-गर्भचारैः ।
पादाऽम्बुजैः पातित-मार-दर्पो
भूमौ प्रजानां विजहर्थ‡ भूत्यै ? ॥४॥

'(हे पद्मप्रभ जिन !) आपने कामदेवके दर्प (मद) को चूर चूर किया है और सहस्रदल-कमलोंके मध्यभागपर चलनेवाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा नभस्थलको पल्लवोंसे व्याप्त-जैसा करते हुए, प्रजाकी विभूतिके लिये—उसमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—भूतलपर विहार किया है।'

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य*
नाऽऽखंडलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुताऽतिभक्ति-
र्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥ (३०)

'हे ऋषिवर ! आप अज हैं—पुनर्जन्मसे रहित हैं—, आपके

---

‡ मुद्रित प्रतियोंमें जो 'विजहर्ष' पाठ है वह अशुद्ध है और लेखकोंकी 'थ' को 'प' पढ़ लेने जैसी भूलका परिणाम जान पड़ता है।

*'अजस्रं' इति पाठान्तरम् ।

गुणसमुद्रके लवमात्रकी भी स्तुति करनेके लिये जब इन्द्र पहले ही समर्थ नहीं हुआ है, तो फिर अब मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है ?—नहीं हो सकता। यह आपके प्रति मेरी अति भक्ति ही है जो मुझ बालकसे—स्तुति-विषयमें अनभिज्ञसे—इस प्रकारका यह स्तवन कराती है।'

७

श्री सुपार्श्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥१॥

'यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—विभाव-परिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय-स्वात्म-स्वरूपमें अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषोंका—जीवात्माओंका—स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रय-विषय-सुखका अनुभव—स्वार्थ नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुखकी—शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थका स्वरूप शोभनपार्श्वों—सुन्दर शरीरांगों—के धारक (और इसलिये अन्वर्थ-संज्ञक) भगवान् सुपार्श्वने बतलाया है।'

अजङ्गमं जङ्गम-नेय-यन्त्रं
यथा तथा जीव-धृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च
स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

'जिस प्रकार अजंगम (जड) यंत्र स्वयं अपने कार्यमें प्रवृत्त न होकर जंगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर अजंगम है—बुद्धिपूर्वक परिस्पन्द-व्यापारसे रहित है—और चेतन-पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है। साथ ही, बीभत्सु है—घृणात्मक है—, पूति है—दुर्गन्धियुक्त है—, क्षयि है—नाशवान् है—और तापक है—आत्माके दुःखोंका कारण है। इस प्रकारके शरीरमें स्नेह रखना—अतिअनुराग बढ़ाना—वृथा है—उससे कुछ भी आत्मकल्याण नहीं सध सकता। यह हितकी बात हे सुपार्श्व जिन ! आपने बतलाई है।'

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं
हेतु-द्वयाऽऽविष्कृत-कार्य-लिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः
संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

'आपने यह भी ठीक कहा है कि हेतुद्वयके—अन्तरंग और बाह्य अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके—अनिवार्य संयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता (जो हितका समुचित एवं समर्थ उपदेश मिलनेपर भी किसीको हितमें प्रवृत्ति नहीं होने देती) अलंघ्यशक्ति है—किसी तरह भी टाली नहीं

टलती। और इस भवितव्यताकी अपेक्षा न रखनेवाला अहंकारसे पीडित हुआ संसारी प्राणी (यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादि) अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादिक कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता।'

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो
नित्यं शिवं वाञ्छति नाऽस्य लाभः।
तथाऽपि बालो भय-काम-वश्यो
वृथा स्वयं तप्यत इत्य .दीः ॥४॥

'आपने यह भी बतलाया है कि—यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंघ्यशक्ति-भवितव्यता-वश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण अथवा निर्वाण चाहता है परन्तु (भावीकी उसी अलंघ्यशक्ति-वश) उसका लाभ नहीं होता। फिर भी यह मूढ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्तायमान होता है। लेकिन डरने तथा इच्छा करने मात्रसे कुछ भी नहीं बनता, उलटा दुःख-सन्ताप उठाना पड़ता है।'

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता
मातेव बालस्य हिताऽनुशास्ता।
गुणाऽवलोकस्य जनस्य नेता
मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य* ॥५॥ (३५)

'(हे सुपार्श्व जिन!) आप सम्पूर्ण तत्त्व-समूहके—जीवादि-विश्व-तत्त्वोंके—प्रमाता हैं—संशयादि-रहित ज्ञाता हैं, माता जिस

* 'परिणूयसे' यह उपलब्ध प्रतियोंका पाठ 'भवान्' शब्दकी मौजूदगी-में कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता।

प्रकार बालकको हितकी—उसके भलेकी—शिक्षा देती है उसी प्रकार आप हेयोपादेयके ज्ञानसे रहित बालक-तुल्य जनसमूहको हितका—निःश्रेयस (मोक्ष) तथा उसके कारण सम्यग्दर्शनादिका—उपदेश देनेवाले हैं, और जो गुणावलोकी जन है—गुणोंकी तलाशमें रहनेवाला भव्यजीव है—उसके आप नेता हैं—बाधक कारणोंको हटाकर आत्मीय अनन्तदर्शनादि गुणोंको प्राप्त कर लेनेके कारण उसे उन गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग दिखानेवाले हैं। इसीसे मैं भी इस समय भक्तिपूर्वक आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ—मेरे भी आप नेता हैं, मुझे भी आपके सत्-शासनके प्रतापसे आत्मीय-गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग सूझ पड़ा है।'

८

श्रीचन्द्रप्रभ-जिन-स्तवन

चन्द्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं
चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं
जिनं जित-स्वान्त-कषाय-बन्धम् ॥१॥

'मैं उन श्रीचन्द्रप्रभ-जिनकी वन्दना करता हूँ, जो चन्द्र-किरण-सम-गौरवर्णसे युक्त जगतमें द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान् (और इसलिये 'चन्द्रप्रभ' इस सार्थक संज्ञाके धारक) हुए हैं,

जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीता है—सम्पूर्ण क्रोधादिकषायोंका नाशकर अकषायपद एवं जिनपद प्राप्त किया है—और (इसीलिये) जो ऋद्धिधारी मुनियोंके—गणधरादिकोंके—स्वामी तथा महात्माओंके द्वारा वन्दनीय हुए हैं।'

यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेश-भिन्नं
तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च
ध्यान-प्रदीपाऽतिशयेन भिन्नम् ॥२॥

'जिनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे—परम शुक्लध्यानके तेज-द्वारा—प्रचुर मानस अन्धकार—ज्ञानावरणादि-कर्मजन्य आत्माका समस्त अज्ञानान्धकार—उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे (लोकमें फैला हुआ) अन्धकार भिन्न-विदीर्ण होकर नष्ट हो जाता है।'

स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता
वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा
गजा यथा केसरिणो* निनादैः ॥३॥

'जिनके प्रवचनरूप-सिंहनादोंको सुनकर अपने मत-पक्षकी सुस्थितिका घमण्ड रखनेवाले—उसे ही निर्बाध एवं अकाट्य समझकर मदोन्मत्त हुए—प्रवादिजन (परवादी) उसी प्रकारसे निर्मद हुए

* 'केशरिणो' इति पाठान्तरम् ।

हैं जिस प्रकार कि मदझरते हुए मस्त हाथी केसरी-सिंहकी गर्जनाओंको सुनकर निर्मद हो जाते हैं।'

> यः सर्व-लोके परमेष्ठितायाः
> पदं बभूवाऽद्भुत-कर्मतेजाः ।
> अनन्त-धामाऽक्षर-विश्वचक्षुः
> समन्तदुःख-क्षय-शासनश्च ॥ ४ ॥

'जो अद्भुत कर्मतेज थे—अपने योगबलसे जिन्होंने पर्वत-समान कठोर कर्म-पटलोंका छेदनकर सदाके लिए अपने आत्मासे उनका सम्बन्ध विच्छेद किया था अथवा शुक्लध्यानाग्निके द्वारा उन्हें भस्मीभूत किया था—, (ऐसा करके) जिन्होंने अनन्ततेजरूप अविनश्वर विश्वचक्षुको प्राप्त किया था—केवलज्ञान-केवलदर्शनके द्वारा जो विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता—द्रष्टा थे—और जो सब ओरसे दुःखोंके पूर्ण क्षयरूप मोक्षके शास्ता (उपदेष्टा) थे—जगत्को जिन्होंने मोक्षमार्गका यथार्थ उपदेश दिया था—; और इस तरह (इन्हीं गुणोंके कारण) जो सम्पूर्ण लोकमें—त्रिभुवनमें—परमेष्ठिताके—परम आप्तताके—पदको प्राप्त हुए थे।'

> स चन्द्रमा भव्य-कुमुद्वतीनां
> विपन्न-दोषाऽभ्र-कलङ्क-लेपः ।
> व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः
> पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥५॥ (४०)

'वे दोषा—रात्रि, अभ्र—मेघ और कलंक—मृगछालादिके लेपसे रहित अथवा रागादिक दोषरूप अभ्र-कलंकके आवरणसे

वर्जित और सुस्पष्ट वचनोंके प्रणयनरूप—स्याद्वादन्यायरूप—किरणमालासे युक्त, भव्य-कुमुदनियोंके लिए (अपूर्व) चन्द्रमा, ऐसे पवित्र भगवान् श्रीचन्द्रप्रभ-जिन मेरे मनको पवित्र करें—उनके वन्दन, कीर्तन, पूजन, भजन, स्मरण और अनुसरणरूप सम्यक् आराधनसे मेरा मन पवित्र होवे।'

९

श्रीसुविधि-जिन-स्तवन

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि तत्त्वं
प्रमाण-सिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना
नैतत्समालीढ-पदं त्वदन्यैः ॥ १ ॥

'(शोभन-विधि-विधानके प्रतिपादन-द्वारा अन्वर्थ संज्ञाके धारक) हे सुविधि (पुष्पदन्त) जिन ! आपने अपने ज्ञान-तेजसे उस प्रमाण-सिद्ध तत्त्वका प्रणयन किया है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है—अनेकान्तात्मक होनेसे किसीकी भी इस एकान्त-मान्यताको स्वीकार नहीं करता कि वस्तुतत्त्व सर्वथा (स्वरूप और पररूप दोनोंसे ही) सत् (विधि) आदि रूप है। यह समालीढ पद—सम्यक् अनुभूत तत्त्व-का प्रतिपादक 'तदतत्स्वभाव' जैसा पद—आपसे भिन्न मत रखनेवाले दूसरे मतप्रवर्तकोंके द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है।'

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्
तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नाऽत्यन्तमन्यत्वमनन्यता च
विधेर्निषेधस्य च शून्य-दोषात् ॥ २ ॥

'(हे सुविधि जिन!) आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं (असद्रूप) है; क्योंकि (स्वरूप-पररूपकी अपेक्षा—उसके द्वारा) वैसी ही सत्-असत्रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता माननेपर शून्य-दोष आता है—अविनाभाव-सम्बन्धके कारण विधि और निषेध दोनोंमेंसे किसीका भी तब अस्तित्व बन नहीं सकता, संकर दोषके भी आ उपस्थित होनेसे पदार्थोंकी कोई व्यवस्था नहीं रहती, और इसलिए वस्तुतत्वके लोपका प्रसङ्ग आ जाता है।'

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-
र्न नित्यमन्य-प्रतिपत्ति-सिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग-
निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥ ३ ॥

'यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्वका नित्य और अनित्य दोनोंरूप होना तुम्हारे मतमें विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह बहिरङ्ग

निमित्त—सहकारी कारण, अन्तरङ्ग निमित्त—उपादान कारण, और नैमित्तक—निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्यके— सम्बन्धको लिये हुए है—द्रव्यस्वरूप अन्तरङ्ग कारणके सम्बन्धकी अपेक्षा नित्य है और क्षेत्रादि-रूप बाह्य कारण तथा परिणाम-पर्यायरूप कार्यकी अपेक्षा अनित्य है।'

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं
वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो
गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः॥ ४॥

'पदका वाच्य—शब्दका अभिधेय—प्रकृतिसे—स्वभावसे—एक और अनेक दोनोंरूप है—सामान्य और विशेषमें अथवा द्रव्य और पर्यायमें अभेद-विवक्षाके होनेपर एकरूप है और भेद-विवक्षाके होनेपर अनेकरूप है—'वृक्षाः' इस पदज्ञानकी तरह। अर्थात जिस प्रकार 'वृक्षाः' यह एक व्याकरण-सिद्ध बहुवचनान्त पद है, इसमें जहाँ वृक्षत्व-सामान्यका बोध होता है वहाँ वृक्ष-विशेषोंका भी बोध होता है। वृक्षत्व-वृक्षपना अर्थात् वृक्षजाति(वृक्षसामान्य)की अपेक्षा इसका वाच्य एक है और वृक्षविशेषकी—आम, अनार, शीशम, जामुन आदिकी—अपेक्षा इसका वाच्य अनेक हैं; क्योंकि कोई भी वृक्ष हो उसमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म रहते हैं, उनमेंसे जिस समय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय वह धर्म मुख्य होता है और दूसरा (अविवक्षित) गौण; परन्तु जो धर्म गौण होता है वह उस विवक्षाके समय कहीं चला नहीं जाता—उसी वृक्ष-वस्तुमें रहता है, कालान्तरमें वह भी मुख्य हो सकता है। जैसे 'आम्राः' कहने पर जब 'आम्रत्व' धर्म मुख्य होकर विवक्षित होता है तब 'वृक्षत्व' नामका सामान्यधर्म उससे अलग नहीं हो जाता—वह भी उसीमें रहता है। और जब

'आम्राः' पदमें आम्रत्व—सामान्यरूपसे विवक्षित होता है तब आम्रके विशेष देशी, कलमी, लंगड़ा, माल्दा, फ़ज़ली आदि धर्म गौण (अविवक्षित) हो जाते हैं और उसी आम्रपदमें रहते हैं। यही बात द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा-अविवक्षाकी होती है। एक ही वृक्ष द्रव्य-सामान्यकी अपेक्षा एकरूप है तो वही अंकुरादि पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक रूप है। दोनोंमें जिस समय जो विवक्षित होता है वह मुख्य और दूसरा गौण कहलाता है। इस तरह प्रत्येक पदका वाच्य एक और अनेक दोनों ही होते हैं।

(यदि पद–शब्दका वाच्य एक और अनेक दोनों हों तो 'अस्ति' कहने-पर 'नास्तित्व' के भी बोधका प्रसंग आनेसे दूसरे पद 'नास्ति' का प्रयोग निरर्थक ठहरेगा, अथवा स्वरूपकी तरह पररूपसे भी अस्तित्व कहना होगा। इसी तरह 'नास्ति' कहनेपर 'अस्तित्व' के भी बोधका प्रसंग आएगा, दूसरे 'अस्ति' पदका प्रयोग निरर्थक ठहरेगा अथवा पररूपकी तरह स्वरूपसे भी नास्तित्व कहना होगा। इस प्रकारकी शंकाका समाधान यह है—) **अनेकान्तात्मक वस्तुके अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादन-में जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे आकांक्षी–सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात**—'स्यात्' शब्दका साथमें प्रयोग—**गौणकी अपेक्षा न रखने वाले नियममें**—सर्वथा एकान्त मतमें—**निश्चित रूपसे बाधक होता है**—उस सर्वथाके नियमको चरितार्थ नहीं होने देता जो स्वरूपकी तरह पररूपके भी अस्तित्वका और पररूपकी तरह स्वरूपके भी नास्तित्वका विधान करता है (और इस लिये यहाँ उक्त प्रकारकी शंकाको कोई स्थान नहीं रहता)।

गुण-प्रधानार्थमिदं हि वाक्यं
जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम् ।

ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां
ममाऽपि साधोस्तव पादपद्मम् ॥ ५ ॥ (४५)

'हे सुविधि-जिन ! आपका यह 'स्यात्' पदरूपसे प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणके आशयको लिये हुए है—विवक्षित और अविवक्षित दोनों ही धर्म इसके वाच्य हैं—अभिधेय हैं। आपसे—आपके अनेकान्त-मतसे—द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्त-वादियोंके लिये यह वाक्य अपथ्यरूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है; क्योंकि दोनों धर्मोंका एकान्त स्वीकार करनेसे उनके यहाँ विरोध आता है। चूँकि आपने ऐसे सातिशय तत्त्वका प्रणयन किया है इसलिये हे साधो ! आपके चरण कमल जगदीश्वरों—इन्द्र-चक्रवर्त्यादिकों—के द्वारा वन्दनीय हैं, और मेरे भी द्वारा वन्दनीय हैं।'

१०

श्रीशीतल-जिन-स्तवन

—:०:※:०:—

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ ! वाक्य-रश्मयः†
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥१॥

'हे अनघ !—निरवद्य-निर्दोष श्रीशीतल-जिन !—आप प्रत्यक्ष-

† 'ऽनघ-वाक्य-रश्मयः' इति पाठान्तरम् ।

ज्ञानी-मुनिकी प्रशम-जलसे भरी हुई वाक्य-रश्मियाँ—यथावत् अर्थस्वरूपकी प्रकाशक वचन-किरणावलियाँ—जिस प्रकारसे—संसार-तापको मिटाने रूपसे—विद्वानोंके लिये—हेयोपादेय-तत्त्वका विवेक रखनेवालोंके वास्ते—शीतल हैं—शान्तिप्रद हैं—उस प्रकार न तो चन्दन तथा चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं, न गंगाका जल शीतल है और न मोतियोंके हारकी लड़ियाँ ही शीतल हैं—कोई भी इनमें से भव-आताप-जन्य दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है।'

सुखाऽभिलाषाऽनल-दाह-मूर्च्छितं
मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभिः ।
व्यदिध्यपस्त्वं विष-दाह-मोहितं
यथा भिषग्मन्त्र-गुणैः स्व-विग्रहम् ॥२॥

'जिस प्रकार वैद्य विष-दाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहार मन्त्रके गुणोंसे—उसकी अमोघशक्तियोंसे—निर्विष एवं मूर्छा-रहित कर देता है उसी प्रकार (हे शीतल जिन!) आपने सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा-रूप अग्निके दाहसे—चतुर्गति-सम्बन्धी दुःखसंतापसे—मूर्छित हुए—हेयोपादेयके विवेकसे विमुख हुए—अपने मनको—आत्माको—ज्ञानमय अमृत-जलोंके सिंचनसे मूर्छा-रहित शान्त किया है—पूर्ण विवेकको जाग्रत करके उसे उत्तरोत्तर संतापप्रद सांसारिक सुखोंकी अभिलाषासे मुक्त किया है।'

स्व-जीविते काम-सुखे च तृष्णया
दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः ।

त्वमार्य ! नक्तं-दिवमप्रमत्तवा-
नजागरेवाऽऽत्म-विशुद्ध-वर्त्मनि ॥ ३ ॥

'अपने जीनेकी तथा काम-सुखकी तृष्णाके वशीभूत हुए लौकिक जन दिनमें श्रमसे पीडित रहते हैं—सेवा-कृष्यादिजन्य क्लेश-खेदसे अभिभूत बने रहते हैं—और रातमें सो जाते हैं—अपने आत्माके उद्धारकी ओर उनका प्रायः कोई लक्ष्य ही नहीं होता। परन्तु हे आर्य-शीतल-जिन ! आप रात-दिन प्रमादरहित हुए आत्माकी विशुद्धिके मार्गमें जागते ही रहे हैं—आत्मा जिससे विशुद्ध होता है—मोहादि कर्मोंसे रहित हुआ स्वरूपमें स्थित एवं पूर्ण विकसित होता है—उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहे हैं।'

अपत्य-वित्तोत्तर-लोक-तृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥ ४ ॥

'कितने ही तपस्वीजन संतान, धन तथा उत्तरलोक (परलोक या उत्कृष्ट लोक) की तृष्णाके वशीभूत हुए—पुत्रादिकी प्राप्तिके लिए, धनकी प्राप्तिके लिए अथवा स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये—(अग्निहोत्रादिक यज्ञ-) कर्म करते हैं; (परन्तु हे शीतल-जिन !) आप समभावी हैं—सन्तान, धन तथा उत्तरलोककी तृष्णासे रहित हैं—आपने पुनर्जन्म और जराको दूर करनेकी इच्छासे मन-वचन-काय तीनोंकी प्रवृत्तिको रोका है—तीनोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हटाकर उन्हें स्वात्मा-

धीन किया है और इस तरह आत्मविकासकी उच्च स्थितिपर पहुँचकर योग-निरोध-द्वारा न मनसे कोई कर्म होने दिया, न वचनसे और न शरीरसे। भावार्थ—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। इस योगसे आत्मा-में कर्मका आस्रव तथा बन्ध होता है, जो पुनर्जन्मादिरूप-संसारपरिभ्रमण-का हेतु है। अतः आपने तो इस योगरूप कर्मको रोककर अथवा स्वाधीन बनाकर संसार-परिभ्रमणसे छूटनेका यत्न किया है, जबकि दूसरे तपस्वियोंने सांसारिक इच्छाओंके वशीभूत होकर अग्निहोत्रादि कर्म करके संसार-परि-भ्रमणका ही यत्न किया है। दोनोंकी इन प्रवृत्तियोंमें कितना बड़ा अन्तर है!

त्वमुत्तम-ज्योतिरजः क्व निर्वृतः
क्व ते परे बुद्धि-लवोद्धव-क्षताः।
ततः स्वनिःश्रेयस-भावनापरै-
र्बुध-प्रवेकैर्जिन! शीतलेड्यसे॥ ५॥ (५०)

'हे शीतल जिन! कहाँ तो आप उत्तमज्योति—परमातिशयको प्राप्त केवलज्ञानके धनी—, **अजन्मा**—पुनर्जन्मसे रहित—**और निर्वृत्त**—सांसारिक इच्छाओंसे रहित सुखीभूत! **और कहाँ वे दूसरे**—प्रसिद्ध अन्य देवता अथवा तपस्वी—**जो लेशमात्र ज्ञानके मदसे नाशको प्राप्त हुए हैं**—सांसारिक विषयोंमें अत्यासक्त होकर दुःखोंमें पड़े हैं और आत्म-स्वरूपसे विमुख एव पतित हुए हैं!! **इसीलिये अपने कल्याणकी भावनामें तत्पर**—उसे साधनेके लिए सम्यग्दर्शनादिकके अभ्यासमें पूर्ण सावधान—**बुधश्रेष्ठों**—गणधरादिक देवों—**के द्वारा आप पूजे जाते हैं।**'

११

श्रीश्रेयो-जिन-स्तवन

—+*****+—

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मि-
न्नेको यथा वीत-घनो विवस्वान् ॥ १ ॥

'हे **अजेयवाक्य**—अबाधित वचन—**श्रेयो जिन** !—सम्पूर्ण कषायों, इन्द्रियों अथवा कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले श्रीश्रेयांस तीर्थंकर ! **आप इन श्रेयप्रजाजनोंको**—भव्यजीवोंको—**श्रेयोमार्गमें अनुशासित करते हुए**—मोक्षमार्गपर लगाते हुए—**विगत-घन-सूर्यके समान अकेले ही इस त्रिभुवनमें प्रकाशमान हुए हैं** ।—अर्थात् जिस प्रकार मेघके पटलोंसे रहित सूर्य अपनी अप्रतिहत किरणों-द्वारा अकेला ही अन्धकारसमूहका विघातक बनकर, दृष्टि-शक्तिसे सम्पन्न नेत्रोंवाली प्रजाको इष्ट स्थानकी प्राप्तिका निमित्तभूत सन्मार्ग दिखलाता हुआ, जगत्में शोभा-को प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि घातिकर्म-चतुष्टयसे रहित आप अकेले ही, अज्ञानान्धकारके प्रसारको विनष्ट करनेमें समर्थ बनकर अपने अबाधित वचनों-द्वारा भव्य-जनोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए, इस त्रिलोकीमें शोभाको प्राप्त हुए हैं ।'

विधिर्विषक्त-प्रतिषेधरूपः
प्रमाणमत्राऽन्यतरत्प्रधानम् ।

गुणोऽपरो मुख्य-नियामहेतु-
र्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ २ ॥

'(हे श्रेयास जिन!) आपके मतमें वह विधि—स्वरूपादि-चतुष्टयसे अस्तित्व—प्रमाण है (प्रमाणका विषय होनेसे) जो **कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धको लिये हुए प्रतिषेध रूप है**—पररूपादिचतुष्टय-की अपेक्षा नास्तित्वरूप भी है—**तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई एक प्रधान** (मुख्य) **और दूसरा गौण होता है** (वक्ताके अभि-प्रायानुसार न कि स्वरूपसे*)। **और मुख्यके**—प्रधानरूप विधि अथवा निषेधके—**नियामका** 'स्वरूपादिचतुष्टयसे ही विधि और पररूपादि-चतुष्टयसे ही निषेध' इस नियमका—**जो हेतु है वह नय है** (नयका विषय होनेसे) **और वह नय दृष्टान्त-समर्थन होता है**—दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्तका समर्थक (उसके असाधारण स्वरूपका निरूपक) होता है।

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो
गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथाऽरिमित्राऽनुभयादिशक्ति
द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ३ ॥

'(हे श्रेयास जिन!) आपके **मतमें जो विवक्षित होता है**—कहने के लिये इष्ट होता है—**वह 'मुख्य (प्रधान)' कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है**—जिसका कहना इष्ट नहीं होता—**वह 'गौण'**

---

* स्वरूपसे प्रधान अथवा गौण मानने पर उसके सदाकाल तद्रूप बने रहनेका प्रसंग आएगा, और यह बात बनती नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादिके साथ इसका विरोध है।

कहलाता है, और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता—उसकी सत्ता अवश्य होती है। इस प्रकार मुख्य-गौण-की व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियों-को लिये रहती है—एक ही व्यक्ति एक का मित्र है (उपकार-करनेसे), दूसरेका शत्रु है (अपकार करनेसे), तीसरेका शत्रु-मित्र दोनों है (उपकार-अपकार करनेसे) और चौथेका न शत्रु है न मित्र (उसकी ओर उपेक्षा धारण करनेसे), और इस तरह उसमें शत्रु-मित्रादिके गुण युगवत् रहते हैं। वास्तवमें वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं) से कार्यकारी होती है—विधि-निषेधरूप, सामान्य-विशेषरूप अथवा द्रव्य-पर्यायरूप दो दो सापेक्ष धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है।'

दृष्टान्त-सिद्धावुभयोर्विवादे
साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति ।
यत्सर्वथैकान्त-नियामि दृष्टं
त्वदीय-दृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ४ ॥

'वादी प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्त (उदाहरण) की सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है—जिसे सिद्ध करना चाहते हैं उसकी भले प्रकार सिद्धि होजाती है—, परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो (उदाहरण बनकर) सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो। क्योंकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबमें—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—अपना प्रभाव डाले हुए है—वस्तुमात्र अने-कान्तात्मकत्वसे व्याप्त है, इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इस लिए उनके सर्वथा नित्यात्वादिरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।'

एकान्त-दृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-
न्यायेषुभि*र्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्य-विभूति-सम्राट्
ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवाऽर्हः ॥ ५ ॥ (५५)

'हे **अर्हन्**—श्रेयो जिन ! **आप एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि-रूप न्यायबाणोंसे**—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—**मोह-शत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए** ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका—घातिकर्म-चतुष्टयका—**नाश करके कैवल्य-विभूतिके**—केवलज्ञानके साथ साथ समवसरणादि विभूतिके—**सम्राट् हुए हैं । इसीसे आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं ।**—मैं भी एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिका उपासक हूँ और उसे पूर्णतया सिद्ध करके मोह शत्रुका नाश कर देना चाहता हूँ तथा कैवल्यविभूतिका सम्राट् बनना चाहता हूँ, अतः आप मेरे लिए आदर्शरूपमें पूज्य हैं—स्तुत्य है ।'

---

* 'सिद्धिर्न्यायेषुभि' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ ।

१२
श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तवन

—:*:०:*:—

शिवासु पूज्योऽभ्युदय-क्रियासु
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्र-पूज्यः ।
मयाऽपि पूज्योऽल्प-धिया मुनीन्द्र !
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥ १ ॥

'हे (वसुपूज्य-सुत) श्रीवासुपूज्य मुनीन्द्र ! आप शिवस्वरूप अभ्युदयक्रियाओंमें पूज्य हैं—मङ्गलमय स्वर्गावतरणादि कल्याणक-क्रियाओंके अवसरपर पूजाको प्राप्त हुए हैं—, त्रिदशेन्द्रपूज्य हैं—देवेन्द्रोंके द्वारा पूजे गये हैं, पूजे जाते हैं—और मुझ अल्पबुद्धिके द्वारा भी पूज्य हैं—मैं भी स्तुत्यादिके रूपमें आपकी पूजा किया करता हूँ। (अल्प बुद्धिके द्वारा पूजा जाना कोई असंगत बात भी नहीं है, क्योंकि) दीप-शिखाके द्वारा क्या सूर्य पूजा नहीं जाता ?—पूजा ही जाता है। लोग दीपक जलाकर सूर्यकी आरती उतारते हैं, दीप-शिखासे उसकी पूजा करते हैं।'

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ ! विवान्त-वैरे ।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः
पुनाति* चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ २ ॥

---

* 'पुनातु' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ ।

'हे भगवन् ! **पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं**—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। (इसी तरह) **निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है**—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उसपर आपको ज़रा भी क्षोभ नहीं आसकता; क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव—द्वेषांश—बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—,जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। **फिर भी आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है।**—और इस लिये हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं यह आपके लिए नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—,जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पाप-मलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। अतः वह आपकी पूजा-वन्दना हम अपने ही हितके लिये करते हैं।'

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य
सावद्य-लेशो बहु-पुण्य-राशौ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य
न दूषिका शीत-शिवाऽम्बुराशौ ॥ ३ ॥

'**हे पूज्य जिन श्रीवासुपूज्य ! आपकी पूजा करते हुए प्राणी-**

के जो सावद्यलेश होता है—सरागपरिणति तथा आरम्भादिक-द्वारा लेशमात्र पापका उपार्जन होता है—वह (भावपूर्वक की हुई पूजासे उत्पन्न होने वाली) **बहुपुण्य-राशिमें दोषका कारण नहीं बनता**—प्रचुर-पुण्य-पुञ्जसे हतवीर्य हुआ वह पाप उस पुण्यको दूषित करने अथवा पाप-रूप परिणत करनेमें समर्थ नहीं होता। (सो ठीक ही है) **विषकी एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नहीं करती**—उसे प्राणघातक विष-धर्मसे युक्त विषैला नहीं बनाती।

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोष-सूते-
र्निमित्तमभ्यन्तर-मूलहेतोः।
अध्यात्म-वृत्तस्य तदङ्गभूत-
मभ्यन्तरं केवलमप्यलं न ‡ ॥ ४ ॥

'जो बाह्य वस्तु गुण-दोषकी—पुण्य-पापादिरूप उपकार-अपकार-की—उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरङ्गमें वर्तनेवाले गुण-दोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूल हेतुकी—शुभाऽशुभादि-परि-णाम-लक्षण उपादानकारणकी—अंगभूत—सहकारी कारणभूत—होती है (और इस कारण मूल कारण शुभाऽशुभादि-परिणामके अभावमें सहकारीकारणरूप कोई भी बाह्य वस्तु पुण्य-पापादिरूप गुण-दोषकी जनक नहीं)। बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी—अकेला जीवादि किसी द्रव्यका परिणाम भी—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।'

‡ 'ने' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ।

बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवाऽन्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥५॥ (६०)

'कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर—सहकारी और उपादान—दोनों कारणोंकी जो यह पूर्णता है वह आपके मतमें द्रव्यगत स्वभाव है—जीवादि-पदार्थगत अर्थ-क्रिया-कारित्वस्वरूप है। अन्यथा—इस समग्रता अर्थात् द्रव्यगत स्वभावके बिना अन्य प्रकारसे—पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नहीं बनती—घटादिकका विधान ही नहीं किन्तु मुक्तिका विधान भी नहीं बन सकता। इसीसे परमर्द्धि-सम्पन्न ऋषि-वासु पूज्य ! आप बुधजनोंके अभिवन्द्य हैं—गणधरादि विबुधजनोंके द्वारा पूजा—वन्दना किये जानेके योग्य हैं।'

१३
श्रीविमल-जिन-स्तवन

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः
परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥१॥

'जो ही नित्य-क्षणिकादिक नय परस्परमें अनपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर स्वतंत्रभावसे सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप वस्तुतत्वका कथन करनेके कारण—(परमतोंमें) स्वपरप्रणाशी हैं—निज और पर दोनोंका नाश करनेवाले स्व-पर-वैरी हैं, और इसलिए दुर्नय हैं। वे ही नय, हे प्रत्यक्षज्ञानी विमल जिन! आपके मतमें परस्परेक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेसे—स्व-पर-उपकारी हैं—अपना और परका दोनोंका भला करनेवाले—दोनोंका अस्तित्व बनाये रखनेवाले स्व-पर-मित्र हैं, और इसलिए तत्त्वरूप-सम्यक् नय हैं।'

यथैकशः कारकमर्थ-सिद्धये
समीक्ष्य शेषं स्व-सहाय-कारकम्।
तथैव सामान्य-विशेष-मातृका
नयास्तवेष्टा गुण-मुख्य-कल्पतः ॥२॥

'जिस प्रकार एक एक कारक—उपादानकारण या निमित्तकारण अथवा कर्त्ता, कर्म आदि कारकोंमेंसे प्रत्येक—शेष—अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिये समर्थ होता है, उसी प्रकार (हे विमलजिन!) आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि रूप) जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट (अभिप्रेत) हैं।—प्रयोजनके वश सामान्यकी मुख्यरूपसे कल्पना (विवक्षा) होनेपर विशेषकी गौणरूपसे और विशेषकी मुख्यरूपसे कल्पना होनेपर सामान्यकी गौणरूपसे कल्पना होती है, एक दूसरेकी अपेक्षाको कोई छोड़ता नहीं; और इस तरह सभी

नय सापेक्ष होकर अपने अर्थकी सिद्धिरूप विवक्षित अर्थके परिज्ञानमें समर्थ होते हैं।

परस्परेक्षाऽन्वय-भेद-लिङ्गतः
प्रसिद्ध-सामान्य-विशेषयोस्तव ।
समग्रताऽस्ति स्व-पराऽवभासकं
यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि-लक्षणम् ॥३॥

'**परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो अन्वय** (अभेद) **और भेद** (व्यतिरेक) **का ज्ञान होता है उससे प्रसिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी** (हे विमल जिन !) **आपके मतमें उसी तरह समग्रता** (पूर्णता) **है जिस तरह कि भूतलपर बुद्धि**(ज्ञान)-**लक्षण प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक-रूपमें समग्र** (पूर्ण—सकलादेशी) **है**—अर्थात् जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान-लक्षण प्रमाण लोकमें स्व-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वरूप दो धर्मोंसे युक्त हुआ अपने विषयमें पूर्ण होता है और उसके ये दोनों धर्म परस्परमें विरुद्ध न होकर सापेक्ष होते हैं—स्व-प्रकाशकत्वके विना पर-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वके विना स्व-प्रकाश-कत्व बनता ही नहीं—उसी प्रकार एक वस्तुमें विशेषण-विशेष्य-भावसे प्रवर्तमान सामान्य और विशेष ये दो धर्म भी परस्पर में विरोध नहीं रखते, किन्तु अविरोधरूपसे सापेक्ष होते हैं—सामान्यके विना विशेष और विशेष-के विना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहिये कि बनता ही नहीं—और इसलिये दोनोंके मेलसे ही वस्तुमें पूर्णता आती है।'

विशेष्य-वाच्यस्य विशेषणं वचो
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।

तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते
विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥४॥

'वाच्यभूत विशेष्यका—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है—विशेषणकी नियतरूपताके साथ अवधारण किया जाता है—'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपताका जो अतिप्रसंग आता है वह (हे विमल जिन!) आपके मतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' शब्दसे वर्जन (परिहार) होजाता है—'स्यात्' शब्दकी सर्वथा प्रतिष्ठा रहनेसे अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका ग्रहण नहीं होता, और इसलिये अतिप्रसंग दोष नहीं आता।'

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लाञ्छिता
रसोपविद्धा इव लोह-धातवः।
भवन्त्यभिप्रेत-गुणा यतस्ततो
भवन्तमार्याः प्रणता* हितैषिणः ॥५॥ (६५)

'(हे विमल जिन!) आपके मतमें जो (नित्य-क्षणिकादि) नय हैं वे सब स्यात्पदरूपी सत्यसे चिह्नित हैं—कोई भी नय 'स्यात्' शब्दके आशय (कथञ्चित्‌के भाव) से शून्य नहीं है, भले ही 'स्यात्' शब्द साथमें लगा हुआ हो या न हो—और रसोपविद्ध लोह-धातुओंके समान—पारेसे अनुविद्ध हुई लोहा-ताम्बा आदि धातुओंकी तरह—

* 'प्रणुता' इति पाठान्तरम्।

अभिमत फलको फलते हैं—यथा स्थित वस्तुतत्त्वके प्ररूपणमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं। इसीसे अपना हित चाहनेवाले आर्य-जनोंने आपको प्रणाम किया है—उत्तम पुरुष सदा ही आपके सामने नत-मस्तक हुए हैं।'

१४

श्रीअनन्तजित्-जिन-स्तवन

—*०::०*—

अनन्त-दोषाऽऽशय-विग्रहो ग्रहो
विषङ्गवान्मोह-मयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥ १ ॥

'जिसका शरीर अनन्त दोषोंका—राग-द्वेष-कामक्रोधादिक अगणित विकारोंका—आधारभूत है (और इसी लिये अनन्त-संसार-परिभ्रमणका कारण है) ऐसा मोहमयी ग्रह—पिशाच, जो चिरकालसे हृदयमें चिपटा हुआ था—आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उसपर अपना आतङ्क जमाए हुए था—वह चूँकि तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेवाले आपके द्वारा पराजित—निर्मूलित—किया गया है, इस लिये आप भगवान् 'अनन्तजित्' हुए हैं—आपकी 'अनन्तजित्' यह संज्ञा सार्थक है।'

कषाय-नाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-
मशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।

विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं
समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयत्‡ ॥ २ ॥

'(हे भगवन्) आप 'कषाय' नामके पीडनशील शत्रुओंका (हृदयमें) नाम निःशेष करते हुए—उनका आत्मासे पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद करते हुए—अशेषवित्—सर्वज्ञ—हुए हैं। और आपने कामदेवके दुरभिमानरूप आतङ्कको, जो कि विशेषरूपसे शोषक—संतापक है, समाधिरूप—प्रशस्त ध्यानात्मक—औषधके गुणोंसे विलीन किया है—विनाशित किया है।'

परिश्रमाऽम्बुर्भय-वीचि-मालिनी
त्वया स्वतृष्णा-सरिदाऽऽर्य ! शोषिता ।
असङ्ग-घर्मार्क-गभस्ति-तेजसा
परं ततो निर्वृति-धाम तावकम् ॥ ३ ॥

'जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है और भयरूप तरंगमालाएँ उठती हैं उस अपनी तृष्णा-नदीको हे आर्य—अनन्तजित ! आपने अपरिग्रह-रूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंके तेजसे सुखा डाला है, इसलिये आपका निर्वृति-तेज उत्कृष्ट है।'

(इसपरसे स्पष्ट है कि तृष्णाको जीतनेका अमोघ उपाय अपरिग्रह-व्रतका भलेप्रकार पालन है। परिग्रहके रहते तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, जिससे उसका जीतना प्रायः नहीं बनता।)

सुहृत्त्वयि श्री-सुभगत्वमश्नुते
द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।

---

‡ 'विलीनयत्' इति पाठान्तरम् ।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि
प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ४ ॥

'हे भगवन् ! जो आपमें **अनुराग**—भक्ति-भाव—**रखता है वह श्रीविशिष्ट सौभाग्यको**—ज्ञानादि-लक्ष्मीके आधिपत्य आदिको—**प्राप्त करता है, और जो आपमें द्वेषभाव रखता है वह प्रत्ययकी तरह**—व्याकरण-शास्त्रमें प्रसिद्ध 'क्विप्' प्रत्ययके समान अथवा क्षण-स्थायी इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान—**विलीन** (नष्ट) **होजाता है**—नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पड़ता है । **परन्तु आप अनुरागी** (मित्र) **और द्वेषी** (शत्रु) **दोनोंमें अत्यन्त उदासीन रहते हैं**—न किसीका नाश चाहते हैं और न किसीकी श्रीवृद्धि; फिर भी मित्र और शत्रु स्वयं ही उक्त फलको प्राप्त हो जाते हैं—, **यह आपका ईहित**—चरित्र—**बड़ा ही विचित्र है**—अद्भुत माहात्म्यको प्रकट करता अथवा गुप्त रहस्यका सूचक है ।'

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम
प्रलाप-लेशोऽल्प-मतेर्महामुने !
अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि
शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥५॥ (७०)

'(हे भगवन् !) **आप ऐसे हैं-वैसे हैं**—आपके ये गुण हैं-वे गुण हैं—, **इस प्रकार मुझ अल्पमतिका**—यथावत गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—**यह स्तुतिरूप थोड़ासा प्रलाप है** । (तब क्या यह निष्फल होगा ? नहीं) **अमृत-समुद्रके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याण-कारक**

होता है उसी प्रकार हे महामुने! आपके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है।

१५
श्रीधर्म-जिन-स्तवन

—*:*:*:*—

धर्म-तीर्थमनघं प्रवर्तयन्
धर्म इत्यनुमतः सतां भवान्।
कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः
शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥ १ ॥

'(हे धर्मजिन!) अनवद्य-धर्मतीर्थको—सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म-तीर्थको अथवा सम्यग्दर्शनाद्यात्मक-धर्मके प्रतिपादक आगम-तीर्थको—(लोकमें) प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञाको लिये हुए माने गये हैं। आपने (विविध) तपरूप अग्नियोंसे कर्म-वनको जलाया है, (फलतः) शाश्वत-अविनश्वर-सुख प्राप्त किया है। (और इसलिये) आप शंकर हैं—कर्मवनको दहन कर अपनेको और धर्मतीर्थको प्रवर्तित कर सकल प्राणियोंको सुखके करनेवाले हैं।'

देव-मानव-निकाय-सत्तमै
रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।

तारका-परिवृतोऽतिपुष्कलो
व्योमनीव शश-लाञ्छनोऽमलः ॥ २ ॥

'जिस प्रकार निर्मल—घन-पटलादि-मलसे रहित—पूर्ण-चन्द्रमा आकाशमें ताराओंसे परिवेष्ठित हुआ शोभता है उसी प्रकार (हे धर्मजिन!) आप देव और मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्ठित तथा गणधरादिबुधजनोंसे परिवारित (सेवित) हुए (समवसरण-सभामें) शोभाको प्राप्त हुए हैं।'

प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो
देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्
नाऽपि शासन-फलैषणाऽऽतुरः ॥ ३ ॥

'प्रातिहार्यों और विभवोंसे—छत्र, चमर, सिंहासन, भामंडल, अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनिरूप आठ प्रकारके चमत्कारों तथा समवसरणादि-विभूतियोंसे—विभूषित होते हुए भी आप उन्हींसे नहीं किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं—अपने शरीरसे भी आपको ममत्व एवं रागभाव नहीं रहा। (फिर भी तीर्थंकर-प्रकृतिरूप पुण्यकर्मके उदयसे) आपने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया है—मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमोघ उपाय बतलाया है। परन्तु आप शासन-फलकी एषणासे आतुर नहीं हुए—कभी आपने यह इच्छा नहीं की कि मेरे उपदेशका फल जनताकी भक्ति अथवा उसकी कार्यसिद्धि आदिके रूपमें शीघ्र प्रकट होवे। और यह सब परिणति आपकी वीतरागता, परिमुक्तता और उच्चताकी

द्योतक है। जो शासन-फलके लिये आतुर रहते हैं वे ऐश्वर्यशाली होते हुए भी क्षुद्र संसारी जीव होते हैं। इसीसे वे प्रायः दम्भके शिकार होते हैं और उनसे सच्चा शासन बन नहीं सकता।'

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो
नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो
धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४॥

'आप प्रत्यक्षज्ञानी मुनिके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ प्रवृत्त करनेकी इच्छासे नहीं हुईं; (तब क्या असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें हुईं?) यथावत् वस्तुस्वरूपको न जानकर असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें भी वे नहीं हुईं। इस तरह हे धीर-धर्मजिन! आपका ईहित—चरित—अचिन्त्य है—उसमें वे सब प्रवृत्तियाँ बिना आपकी इच्छा और असमीक्ष्यकारिताके तीर्थंकर-नामकर्मोदय तथा भव्यजीवोंके अदृष्ट(भाग्य)-विशेषके वशसे होती हैं।'

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्
देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ! परमाऽसि देवता
श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः ॥५॥ (७५)

'हे नाथ! चूँकि आप मानुषी प्रकृतिको—मानव स्वभावको—अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओंमें भी देवता हैं—पूज्य हैं—इस लिये आप परम-उत्कृष्ट देवता हैं—पूज्यतम हैं। अतः हे धर्मजिन! आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें, हम प्रसन्नता-

पूर्वक रसायन-सेवनकी तरह आपका आराधन करके संसार-रोग मिटाते हुए अपना पूर्ण स्वास्थ्य (मोक्ष) सिद्ध करनेमें समर्थ होवें।

भावार्थ—'**श्रेयसे प्रसीद नः**—आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें,' यह अलंकृत भाषामें भक्तकी प्रार्थना है, जिसका शब्दाशय यद्यपि इतना ही है कि आप हमपर प्रसन्न होवें और उस प्रसन्नताका फल हमें कल्याणके रूपमें प्राप्त होवे; परन्तु वीतराग जिनेन्द्रदेव किसीपर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं हुआ करते—वे तो सदा ही आत्मस्वरूपमें मग्न और प्रसन्न रहते हैं, फिर उनसे ऐसी प्रार्थनाका कोई प्रयोजन नहीं। वास्तवमें यह अलंकृत-भाषामय प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है और इसका फलितार्थ यह है कि हम वीतरागदेव श्रीधर्मजिनका प्रसन्न-हृदयसे आराधन करके उनके साथ तन्मयता प्राप्त करें और उस तन्मयताके फलस्वरूप अपना आत्म-कल्याण सिद्ध करनेमें उसी प्रकारसे समर्थ होवें जिस प्रकार कि रसायनके प्रसादसे—प्रसन्नतापूर्वक रसायनका सेवन करनेसे—रोगीजन आरोग्य-लाभ करनेमें समर्थ होते हैं।'

१६

श्रीशान्ति-जिन-स्तवन

—+*****+—

विधाय रक्षां परतः प्रजानां
राजा चिरं योऽप्रतिम-प्रतापः।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्ति-
र्मुनिर्दया-मूर्तिरिवाऽघशान्तिम् ॥ १ ॥

'जो शान्ति-जिन परसे—शत्रुओंसे—प्रजाजनोंकी रक्षा करके चिरकाल तक अप्रतिम-प्रतापके—अनुपम पराक्रमके—धारक राजा हुए और फिर जिन्होंने स्वयं ही—बिना किसीके उपदेशके—मुनि होकर दयामूर्तिकी तरह प्रथम ही (हिंसादि) पापोंकी शान्ति की।'

चक्रेण यः शत्रु-भयङ्करेण
जित्वा नृपः सर्व-नरेन्द्र-चक्रम्।
समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय
महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम् ॥ २ ॥

'जो (गृहस्थावस्थामें) शत्रुओंके लिए भय उपजानेवाले चक्र-से सर्व नरेन्द्रचक्रको—सम्पूर्ण राजाओंके समूहको—जीत कर चक्री नृप—चक्रवर्ती सम्राट्—हुए और बादको (मुनि-अवस्थामें) समाधि-चक्रसे—धर्मध्यान-शुक्लध्यानके प्रभावसें—दुर्जय मोहचक्रको—मोहनीय कर्मके मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंचको—जीतकर जो महान् उदयको—अपने पूर्ण विकासको—प्राप्त हुए हैं।'

राज-श्रिया राजसु राज-सिंहो
रराज यो राज-सुभोग-तन्त्रः।
आर्हन्त्य-लक्ष्म्या पुनरात्म-तन्त्रो
देवाऽसुरोदार-सभे रराज ॥ ३ ॥

'जो राजेन्द्र, राजाओंके योग्य सुभोगोंके अधीन हुए अथवा उन्हें स्वाधीन (अधिकाधिक रूपमें प्राप्त) किए हुए, राज-लक्ष्मीसे राजाओंमें शोभाको प्राप्त हुए वे ही फिर (परम वीतराग अवस्थामें) आत्माधीन हुए—आत्माको कर्मबन्धनसे छुड़ाकर स्वाधीन किए हुए—

आर्हन्त्य-लक्ष्मीसे—अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग और अष्ट-महाप्रातिहार्यादिरूप बहिरङ्ग विभूतिसे—देवों तथा असुरों (अदेवों)—मनुष्यादिकोंकी महती (समवसरणवर्तिनी) सभामें शोभाको प्राप्त हुए हैं ।'

यस्मिन्नभूद्राजनि राज-चक्रं
मुनौ दया-दीधिति-धर्म-चक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देव-चक्रं
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्त-चक्रम् ॥ ४ ॥

'जिनके राजा होनेपर राजाओंका समूह हाथ जोड़े खड़ा रहा, मुनि होने पर दयाकी किरणोंवाला धर्मचक्र प्राञ्जलि हुआ—आत्माधीन बना—,पूज्य होनेपर—धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेपर—देवोंका समूह पुनः पुनः हाथ जोड़े खड़ा रहा, और ध्यानके सन्मुख होनेपर—व्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षण-योगके चरम-समयमें—कृतान्तचक्र—कर्मोंका अवशिष्ट समूह—नाशको प्राप्त हुआ ।'

स्वदोष-शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥ ५ ॥ (८०)

'जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंकी—शान्ति करके—पूर्ण निवृत्ति करके—आत्मामें शान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है, और (इसलिये) जो शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता हैं वे भग-

वान् शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—शरणभूत हैं। अतः मेरे संसार-परिभ्रमणकी, क्लेशोंकी और भयोंकी उपशान्तिके लिये निमित्त-भूत होवें।'

भावार्थ—आत्माके शान्ति-सुखकी प्राप्ति अपने दोषोंको—राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंको—शान्तकर नेसे होती है, और जिस महान् आत्माने अपने दोषोंको शान्त करके आत्मामें शान्ति-सुखकी प्रतिष्ठा की है वही शरणागतोंके लिये शान्ति-सुखका विधाता होता है—उनमें शान्ति-सुख-का संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक होता है, और ऐसा करनेमें उसके लिए किसी इच्छा तथा प्रयत्नकी भी जरूरत नहीं पड़ती—वह स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिकका कोई कारण नहीं पड़ता। श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रने अपने दोषोंको—रागादिविभावपरिणामों-को—पूर्णतया शान्त करके अपने आत्मामें पूर्ण शान्ति स्थापित की है और इसलिये वे शरणागत भव्यजीवोंमें शान्ति-सुखके विधाता हैं—बिना किसी इच्छा या हस्तादि-प्रयत्नके ही उनमें शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुख-रूप परिणत करनेमें प्रबल सहायक हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्र, शान्तिजिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए, कहते हैं—'मैं ऐसे शान्तिमय जिनभगवान्की शरणमें प्राप्त होता हूँ—उनकी शान्ति-पद्धतिको अपनाता हुआ उनका आराधन करता हूँ—, फलतः मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सांसारिक क्लेशों—दुःखों तथा भयोंकी समाप्ति होवे।'

१७

श्रीकुन्थु-जिन-स्तवन

—:०:❀:०:—

कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्त्व-दयैकतानः
कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्म-चक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै
भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वर-चक्रपाणिः ॥१॥

'कुन्थ्वादि सकल प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए हे कुन्थुजिन ! आपने पहले (गृहस्थावस्थामें) राज्यविभूतिके निमित्त राजाओंके स्वामी चक्रवर्ती होकर बादको ज्वरादि रोग, जरा (बुढ़ापा) और मरणकी उपशान्तिरूप मुक्ति-विभूतिके लिये इस लोकमें धर्म-चक्रको प्रवर्तित किया है—अर्थात् आप चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर दोनों महान् पदोंको प्राप्त हुए हैं ।'

तृष्णाऽर्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थ-विभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव काय-परिताप-हरं निमित्त-
मित्यात्मवान् विषय-सौख्य-पराङ्मुखोऽभूत् ॥२॥

'तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि ज्वालाएँ स्वभावसे ही संतापित करती हैं । इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे—प्रचुर परिमाणमें सम्प्राप्तिसे—नहीं होती, उल्टी वृद्धि ही

होती है; क्योंकि वस्तु-स्थिति ऐसी ही है—इन्द्रिय-विषयोंको जितना अधिक सेवन किया जाता है उतनी ही अधिक उनके और सेवनकी तृष्णा बढ़ती रहती है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके सन्तापको मिटानेमें निमित्तमात्र हैं—तृष्णारूप अग्नि-ज्वालाओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते। यह सब जानकर हे आत्मवान्!—इन्द्रियविजेता भगवन्!—आप विषय-सौख्यसे पराङ्मुख हुए हैं—आपने चक्रवर्तित्वकी सम्पूर्ण विभूतिको हेय समझते हुए उनसे मुख मोड़कर अपना पूर्ण आत्मविकास सिद्ध करनेके लिये स्वयं ही वैराग्य लिया है—जिनदीक्षा धारण की है।'

बाह्यं तपः परम-दुश्चरमाऽऽचरस्त्व-
माऽऽध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुष-द्वयमुत्तरस्मिन्†
ध्यान-द्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥३॥

'(वैराग्य लेकर) आपने आध्यात्मिक तपकी—आत्मध्यानकी—परिवृद्धिके लिये परमदुश्चर बाह्य तप—अनशनादिरूप घोर-दुद्धर तपश्चरण—किया है। और (इस बाह्यतपश्चरणको करते हुए) आप आर्त-रौद्र-रूप दो कलुषित (खोटे) ध्यानोंका निराकरण करके उत्तर-वर्ती—धर्म्य और शुक्ल नामक—दो सातिशय (प्रशस्त) ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए हैं।'

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयाऽतिशय-तेजसि जात-वीर्यः।

---

† उत्तरेस्मिन्' इति पाठान्तरम्।

बभ्राजिषे सकल-वेद-विधेर्विनेता
व्यभ्रे यथा वियति दीप्त-रुचिर्विवस्वान् ॥४॥

'(सातिशय ध्यान करते हुए हे कुन्थुजिन!) आप अपने कर्मोंकी चार कटुक प्रकृतियोंको—ज्ञानवरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंको—रत्नत्रयकी—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी—सातिशय अग्निमें—परमशुक्लध्यानरूप-वह्निमें—भस्म करके जातवीर्य हुए हैं—शक्तिसम्पन्न बने हैं—और सकल-वेद-विधिके—सम्पूर्ण लोकाऽलोक—विषयक-ज्ञान-विधायक आगमके—प्रणेता होकर ऐसे शोभायमान हुए हैं जैसे कि घनपटल-विहीन आकाशमें दीप्त किरणोंको लिये हुए सूर्य शोभता है।'

यस्मान्मुनीद्र ! तव लोक-पितामहाद्या
विद्या-विभूति-कणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमाऽऽर्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्व-हितैकतानाः ॥५॥(८८)

'हे मुनीन्द्र श्रीकुन्थुजिन! चूँकि लोकपितामहादिक—ब्रह्मा-विष्णु-महेश-कपिल-सुगतादिक—आपकी विद्या (केवलज्ञान) की और विभूतिकी—समवसरणादि लक्ष्मीकी—एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं हैं, इस लिये आत्महित-साधनकी धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन—गणधरादिक—पुनर्जन्मसे रहित आप अद्वितीय स्तुत्य (स्तुति-पात्र) की स्तुति करते हैं।'

१८

श्रीअर-जिन-स्तवन

गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१॥

'विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति (हे अर-जिन !) आपमें कैसे बन सकती है ?—नहीं बन सकती। क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौरपर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ा कर कहनेकी तो फिर बात ही दूर है।'

तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्य-कीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥२॥

'(यद्यपि आपके गुणोंका कथन करना अशक्य है) फिर भी आप पुण्यकीर्ति* मुनीन्द्रका चूँकि नाम-कीर्तन भी—भक्तिपूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है। इसलिये हम आपके गुणोंका कुछ-लेशमात्र कथन (यहाँ) करते हैं।'

---

* 'कीर्ति' शब्द वाणी, ख्याति और स्तुति तीनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और 'पुण्य' शब्द पवित्रता तथा प्रशस्तताका द्योतक है। अतः जिनकी वाणी पवित्र-प्रशस्त है, ख्याति पवित्र-प्रशस्त है और स्तुति पुण्योत्पादक-पवित्रतासम्पादक है उन्हें 'पुण्य-कीर्ति' कहते हैं।

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र-लाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥३॥

'लक्ष्मीकी विभूतिके सर्वस्वको लिये हुए जो चक्रलाञ्छन—चक्रवर्तित्वका—सार्वभौम साम्राज्य आपको सम्प्राप्त था, वह मुमुक्षु होनेपर—मोक्ष प्राप्तिकी इच्छाको चरितार्थ करनेके लिये उद्यत होनेपर—आपके लिये जीर्ण तृणके समान हो गया—आपने उसे निःसार समझ कर त्याग दिया।'

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहु-विस्मयः ॥४॥

'आपके रूप-सौन्दर्यको देखकर दो नेत्रोंवाला इन्द्र तृप्तिको प्राप्त न हुआ—उसे आपको अधिकाधिकरूपसे देखनेकी लालसा बनी ही रही—(और इसलिये विक्रिया-द्वारा) वह सहस्र-नेत्र बन कर देखने लगा, और बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ।'

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-संवि*दुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥५॥

'कषाय-भटोंकी—क्रोध-मान-माया-लोभादिककी—सैन्यसे युक्त जो मोहरूप—मोहनीय कर्मरूप—पापी शत्रु है—आत्माके गुणोंका प्रधानरूपसे घात करनेवाला है—उसे हे धीर अर-जिन ! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक्-चारित्र—रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित कर दिया है।'

---

* 'संप' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ ।

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ६ ॥

'तीन लोककी विजयसे उत्पन्न हुए कामदेवके उत्कट दर्पको—महान् अहंकारको—आपने लज्जित किया है। आप धीरवीर—अक्षुभितचित्त—मुनीन्द्रके सामने कामदेव हतोदय (प्रभावहीन) हो गया—उसकी एक भी कला न चली।'

आयत्यां च तदात्वे च दुःख-योनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा विद्या-नावा विविक्तया ॥७॥

'आपने उस तृष्णा-नदीको निर्दोष ज्ञान-नौकासे पार किया है जो इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योनि है—कष्ट-परम्पराको उत्पन्न करनेवाली है—और जिसका पार करना आसान नहीं है—बड़े कष्टसे जिसे तिरा (पार किया) जाता है।'

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखः सदा ।
त्वामन्तकाऽन्तकं प्राप्य व्यावृत्तः काम-कारतः ॥८॥

'पुनर्जन्म और ज्वरादिक रोगोंका मित्र अन्तक-यम सदा मनुष्योंको रुलानेवाला है; परन्तु आप अन्तकका अन्त करनेवाले हैं, आपको प्राप्त होकर अन्तक-काल अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति-से उपरत हुआ है—उसे आपके प्रति अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा है।'

भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागि विद्या-दम-दया-परम् ।
रूपमेव तवाऽऽचष्टे धीर ! दोष-विनिग्रहम् ॥९॥

'हे धीर अर-जिन ! आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी

और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए आपका रूप ही इस बातको बतलाता है कि आपने दोषोंका पूर्णतया निग्रह (विजय) किया है—क्योंकि राग तथा अहंकारका निग्रह किये विना कटक-केयूरादि आभूषणों तथा जटा-मुकुट-रक्ताम्बरादिरूप वेषोंके त्यागनेमें प्रवृत्ति नहीं होती, द्वेष तथा भयका निग्रह किये विना शस्त्रास्त्रोंका त्याग नहीं बनता, अज्ञानका नाश किये विना ज्ञानमें उत्कृष्टता नहीं आती, मोहका क्षय किये विना कषायों और इन्द्रियोंका पूरा दमन नहीं बन आता और हिंसावृत्ति, द्वेष तथा लौकिक स्वार्थको छोड़े विना दयामें तत्परता नहीं आती।'

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यान-तेजसा ॥१०॥

'सब ओरसे निकलनेवाले आपके शरीर-तेजोंके बृहत् परिमंडलसे—विशाल प्रभामंडलसे—आपका बाह्य अन्धकार दूर हुआ और ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक—ज्ञानावरणादिरूप भीतरी—अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है।'

सर्वज्ञ-ज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ ! सचेतनम् ॥११॥

'हे नाथ अरजिन ! सर्वज्ञकी ज्योतिसे—ज्ञानोत्कर्षसे—उत्पन्न हुआ आपके माहात्म्यका उदय किस सचेतन प्राणीको—गुण-दोषके विवेकमें चतुर जीवात्माको—प्रणम्रशील नहीं बनाता ? सभीको आपके आगे नत-मस्तक करता है।'

तव वागमृतं श्रीमत्सर्व-भाषा-स्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१२॥

'सर्व-भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और समवसरण-सभामें व्याप्त हुआ आपका श्रीसम्पन्न—सकलार्थके यथार्थ प्रतिपादनकी शक्तिसे युक्त—वचनामृत प्राणियोंको उसी प्रकार तृप्त-संतुष्ट करता है जिस प्रकार कि अमृत-पान।

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३॥

'(हे अरजिन!) आपकी अनेकान्तदृष्टि (अनेकान्तात्मक-मत-प्रवृत्ति) सती—सच्ची है, विपरीत इसके जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत है*। अतः जो कथन अनेकान्त-दृष्टिसे रहित—एकान्त-दृष्टिको लिये हुए—है वह सब मिथ्या है; क्योंकि वह अपना ही—सत्-असत् आदिरूप एकान्तमतका ही—घातक है—अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती।'

ये पर-स्खलितोन्निद्राः स्व-दोषेभ-निमीलनाः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मत-श्रियः ॥१४॥

'जो (एकान्तवादी जन) परमें—अनेकान्तमें—विरोधादि दोष देखनेके लिए उन्निद्र—जागृत—रहते हैं और अपनेमें—सत् आदि एकान्तमें—दोषोंके प्रति गज-निमीलनका व्यवहार करते हैं—उन्हें देखते हुए भी न देखनेका डौल बनाते हैं—वे बेचारे क्या करें?—उनसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण बन नहीं सकता। (क्योंकि) वे आपके अनेकान्त-मतकी (यथार्थ वस्तुस्वरूप-विवेचकत्व-लक्षणा)

* यह सब कैसे है, इस विषयको विशेषरूपसे जाननेके लिये इसी स्वयम्भू-स्तोत्र-गत सुमति-जिन और सुविधि-जिनके स्तवनोंको अनुवाद-सहित देखना चाहिए।

श्रीके पात्र नहीं हैं—सर्वथा एकान्तपक्षको अपनानेसे वे उसके योग्य ही नहीं रहे ।'

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वाऽवक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

'वे एकान्तवादी जन, जो उस (पूर्वोक्त) **स्वघाति-दोषको दूर करनेके लिये असमर्थ हैं, आपसे**—आपके अनेकान्तवादसे—**द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं**—अपने सिद्धान्तका घात स्वयं अपने हाथों करते हैं—**और** यथावद्वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ-**बालक हैं,**(इसीसे)**उन्होंने तत्त्व की अवक्तव्यताको आश्रित किया है**—वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन किया है ।'

सदेक-नित्य-वक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति† पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥१६॥

'**सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य ये जो नय-पक्ष हैं वे यहाँ सर्वथा-रूपमें तो अति दूषित हैं और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं ।**—अर्थात् सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत), सर्वथा अनेक सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा वक्तव्य और सर्वथा अवक्तव्य रूपमें जो मत-पक्ष हैं, वे सब दूषित (मिथ्या) नय हैं—स्वेष्टमें बाधक हैं। और स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् वक्तव्य और स्यात् अवक्तव्यरूपमें जो नय-पक्ष हैं, वे सब पुष्ट (सम्यक्) नय हैं—स्वकीय अर्थका निर्बाधरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं ।'

---

† 'प्रदुष्यन्ते पुष्यन्ते' इति पाठान्तरम् ।

सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१७॥

'**सर्वथारूपसे**—सत् ही है, असत् ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे—**प्रतिपादनके नियमका त्यागी, और यथादृष्टको**—जिस प्रकार सत्–असत् आदि रूपसे वस्तु-प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—**अपेक्षामें रखनेवाला जो 'स्यात' शब्द है वह आपके**—अनेकान्तवादी जिनदेवके—**न्यायमें है**, (त्वन्मत-बाह्य) **दूसरोंके**—एकान्तवादियोंके—**न्यायमें नहीं है, जो कि अपने वैरी आप हैं*** ।'

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१८॥

'**आपके मतमें अनेकान्त भी**—सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी—**प्रमाण और नयसाधनों** (दृष्टियों) **को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप**—कथञ्चित् अनेकान्त और कथञ्चित् एकान्तस्वरूप—**है। प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है** ('सकलादेशः प्रमाणाधीनः' इस वाक्यके आशयानुसार) **और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप**—प्रतिनियतधर्मरूप—**सिद्ध होता है** ('विकलादेशः नयाधीनः' इस वाक्यके आशयानुसार) ।'

---

* एकान्तवादी परके वैरी होनेके साथ साथ अपने वैरी आप कैसे हैं, इस बातको सविशेषरूपसे जाननेके लिये 'समन्त-भद्र-विचार-माला' का प्रथम लेख 'स्व-पर-वैरी कौन ?' देखना चाहिये, जो कि 'अनेकान्त' के चतुर्थ वर्ष की प्रथम किरण (नववर्षाङ्क) में प्रकाशित हुआ है ।

इति निरुपम-युक्त-शासनः*
प्रिय-हित-योग-गुणाऽनुशासनः।
अर-जिन ! दम-तीर्थ-नायक-
स्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ? ॥१९॥

'इस प्रकार हे अरजिन ! आप निरुपम-युक्त-शासन हैं—उपमा-रहित और प्रमाण-प्रसिद्ध शासन—मतके प्रवर्तक हैं—, प्रिय तथा हितकारी योगोंके—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियों अथवा समाधिके—और गुणोंके—सम्यग्दर्शनादिकके—अनुशासक हैं, साथ ही दम-तीर्थके नायक हैं—कषाय तथा इन्द्रियोंकी जयके विधायक प्रवचन-तीर्थके स्वामी हैं। आपके समान फिर साधुजनोंको प्रतिबोध देनेके लिये और कौन समर्थ है ?—कोई भी समर्थ नहीं है। आप ही समर्थ हैं।'

मति-गुण-विभवानुरूपत-
स्त्वयि-वरदाऽऽगम-दृष्टिरूपतः।
गुण-कृशमपि किञ्चनोदितं
मम भवताद् दुरिताऽसनोदितम् ॥२०॥ (१०५)

'हे वरद—अरजिन ! मैंने अपनी मत-शक्तिकी सम्पत्तिके अनुरूप—जैसी मुझे बुद्धि-शक्ति प्राप्त हुई है उसके अनुसार—तथा आगमकी दृष्टिके अनुसार—आगममें कथित गुणोंके आधारपर—आपके विषयमें कुछ थोड़ेसे गुणोंका कीर्तन किया है, यह गुण-कीर्तन मेरे पाप-कर्मोंके विनाशमें समर्थ होवे—इसके प्रसादसे मेरी मोहनीयादि पाप-कर्मप्रकृतियोंका क्षय होवे।'

---

* 'युक्ति-शासनः' इति पाठान्तरम्।

१९

श्रीमल्लि-जिन-स्तवन

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-
प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
साऽमर-मर्त्यं जगदपि सर्वं
प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१॥

'जिन महर्षिके सकल-पदार्थोंका प्रत्यवबोध—जीवादि-सम्पूर्ण पदार्थोंको सब ओरसे अशेष-विशेषको लिये हुए जाननेवाला परि-ज्ञान (केवलज्ञान)—साक्षात (इन्द्रिय-श्रुतादि-निरपेक्ष प्रत्यक्ष) रूपसे उत्पन्न हुआ, (और इसलिये) जिन्हें देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ सारे ही जगतने हाथ जोड़कर नमस्कार किया; (उन मल्लिजिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव
स्व-स्फुरदाभा-कृत-परिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा
स्यात्पद-पूर्वा रमयति साधून् ॥२॥

'जिनकी मूर्ति—शरीराकृति—सुवर्णनिर्मित-जैसी है और स्फुरायमान आभासे परिमण्डल किये हुए है—सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करनेवाला भामण्डल बनाये हुए है—, वाणी भी जिनकी 'स्यात्'

पदपूर्वक यथावत् वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाली है और साधु-जनोंको रमाती है—आकर्षित करके अपनेमें अनुरक्त करती है; (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य पुरस्ताद्विगलित-माना
न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासी-
ज्जात-विकोशाम्बुज-मृदु-हासा ॥ ३ ॥

'जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन—एकान्तवाद-मतानुयायी—पृथ्वीपर विवाद नहीं करते थे और पृथ्वी भी (जिनके विहारके समय) पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु-हास्यको लिये हुए रमणीक हुई थी; (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य समन्ताज्जिन-शिशिरांशोः
शिष्यक-साधु-ग्रह-विभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्वं जनन-समुद्र-
त्रासित-सत्त्वोत्तरण-पथोऽग्रम् ॥ ४ ॥

'(अपनी शीतल-वचन-किरणोंके प्रभावसे संसार-तापको शान्त करने-वाले) जिन जिनेन्द्र-चन्द्रका विभव (ऐश्वर्य) शिष्य-साधु-ग्रहोंके रूपमें हुआ था—प्रचुर परिमाणमें शिष्य-साधुओंके समूहसे जो व्याप्त थे—, जिनका आत्मीय तीर्थ—शासन—भी संसार-समुद्रसे भय-भीत प्राणियोंको पार उतरनेके लिये प्रधान मार्ग बना है; (उन मल्लि-जिनेन्द्रकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिन-सिंहं कृतकरणीयं
मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥५॥ (११०)

'और जिनकी शुक्लध्यानरूप परम तपोऽग्निने अनन्त दुरित-को—अन्तको प्राप्त न होनेवाले (परम्परासे चले आनेवाले) कर्माष्टकको—भस्म किया था,

उन (उक्त गुणविशिष्ट) कृतकृत्य और अशल्य—माया-मिथ्या-निदान-शल्यवर्जित—मल्लिजिनेन्द्रकी मैं शरण में प्राप्त हुआ हूँ—इस शरण-प्राप्ति-द्वारा उस अनन्त दुरितरूप कर्मशत्रुसे मेरी रक्षा होवे।'

२०

श्रीमुनिसुव्रत-जिन-स्तवन

—+*****+—

अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थिति-
र्मुनि-वृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनि-परिषदि निर्बभौ भवा-
नुडु-परिषत्परिवीत-सोमवत् ॥१॥

'मुनियोंके सुव्रतोंकी—मूलोत्तर-गुणोंकी—स्थितिको अधिगत करनेवाले—उसे भले प्रकार जाननेवाले ही नहीं किन्तु स्वतः के आच-

रण-द्वारा अधिकृत करनेवाले—(और इसलिए) 'मुनि-सुव्रत' इस अन्वर्थ संज्ञाके धारक हे निष्पाप (घातिकर्म-चतुष्टयरूप पापसे रहित) मुनिराज ! आप मुनियोंकी परिषद्में—गणधरादि ज्ञानियोंकी सभा (समवसरण) में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है।'

परिणत-शिखि-कण्ठ-रागया
कृत-मद-निग्रह-विग्रहाऽऽभया।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया
ग्रह-परिवेष-रुचेव शोभितम् ॥२॥

'मद-मदन अथवा अहंकारके निग्रहकारक—निरोधसूचक—शरीरके धारक हे मुनिसुव्रत जिन ! आपका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण-मोरके कण्ठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित हुआ है जिस प्रकार कि ग्रहपरिवेषकी—चन्द्रमाके परिमण्डलकी—दीप्ति शोभती है।'

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहितं
सुरभितरं विरजो निजं वपुः।
तव शिवमतिविस्मयं यते !
यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥३॥

'हे यतिराज ! आपका अपना शरीर चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अतिसुगन्धित, रजरहित, शिवस्वरूप (स्व-पर-कल्याणमय) तथा अति आश्चर्यको लिए हुए

रहा है और आपके वचन तथा मनकी जो प्रवृत्ति हुई है वह भी शिव-स्वरूप तथा अति आश्चर्यको लिए हुए हुई है।'

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन! सकलज्ञ-लाञ्छनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

'हे मुनिसुव्रत जिन! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं—आपका यह वचन कि 'चर और अचर (जंगम-स्थावर) जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिए हुए है'—प्रत्येक समयमें ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप है—सर्वज्ञताका चिन्ह है—संसारभरके जड-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञताके बिना नहीं बन सकता, और इसलिए आपके इस परम अनुभूत वचनसे स्पष्ट सूचित होता है कि आप सर्वज्ञ हैं।'

दुरित-मल-कलङ्कमष्टकं
निरुपम-योग-बलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्
भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥ ५ ॥ (११५)

'(हे मुनिसुव्रत जिन!) आप अनुपम योगबलसे—परमशुक्लध्यानाग्निके तेजसे—आठों पाप-मलरूप कलंकोंको—जीवात्माके वास्तविक स्वरूपको आच्छादन करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु नामके आठों कर्ममलोंको—

भस्मीभूत करते हुए, संसारमें न पाये जाने वाले सौख्यको—परम अतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्यको—प्राप्त हुए हैं। (अतः) आप मेरी—मुझ स्तोताकी—भी संसार-शान्तिके लिए निमित्तभूत होवें—आपके आदर्शको सामने रखकर मैं भी योग-बलसे आठों कर्म-मलोंको दग्ध करके अतीन्द्रिय परमसौख्यको प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी भावना अथवा आत्मप्रार्थना है।'

२१

श्रीनमि-जिन-स्तवन

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायस-पथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि-जिनम् ॥१॥

'स्तुतिके समय स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फल-की प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोताकी—विवेकके साथ भक्तिभाव-पूर्वक स्तुति करनेवाले-की—स्तुति कुशल-परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर है; और वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेयफलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयो-मार्ग सुलभ है—स्वयं प्रस्तुत की गई स्तुतिके-द्वारा प्राप्त है—तब, हे

सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान्—प्रेक्षापूर्वकारी अथवा विवेकी जन—है जो आपकी स्तुति न करे ? करे ही करे।'

त्वया धीमन् ! ब्रह्म-प्रणिधि-मनसा जन्म-निगलं
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्ष-पदवी।
त्वयि ज्ञान-ज्योतिर्विभव-किरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥२॥

'हे बुद्धि-ऋद्धिसम्पन्न भगवन् ! आपने परमात्म(शुद्धात्म)-स्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके पुनर्जन्मके बन्धनको उसके मूल-कारण-सहित नष्ट किया है, अतएव आप विद्वज्जनोंके लिए मोक्ष-मार्ग अथवा मोक्षस्थान हैं—आपको प्राप्त होकर विवेकी जन अपना मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ होते हैं। आपमें विभव (समर्थ) किरणोंके साथ केवलज्ञानज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती—एकान्त-वादी—जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए हैं जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनू) होते हैं।'

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्-
विशेषैः प्रत्येकं नियम-विषयैश्चापरिमितैः।
सदाऽन्योन्यापेक्षैः सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहु-नय-विवक्षेतर-वशात् ॥३॥

'हे सम्पूर्ण जगत्के महान् गुरु श्रीनमिजिन ! आपने वस्तु-तत्त्वको बहुत नयोंकी विवक्षा-अविवक्षाके वशसे विधेय, वार्य (प्रतिषेध्य) उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयाऽनुभय, प्रतिषेध्या-ऽनुभय और उभयाऽनुभय—(ऐसे सप्तभंग) रूप निर्दिष्ट किया है। साथ

ही अपरिमित विशेषों (धर्मों) का कथन किया है, जिनमेंसे एक-एक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहता है, और सप्त-भंगके नियमको अपना विषय किये रहता है—कोई भी विशेष अथवा धर्म सर्वथा एक दूसरेकी अपेक्षासे रहित कभी नहीं होता और न सप्तभंग-के नियमसे बहिर्भूत ही होता है।'

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राऽऽश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परम-करुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ॥४॥

'प्राणियोंकी अहिंसा जगत्में परमब्रह्म—अत्युच्चकोटिकी आत्म-चर्या—जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रमविधिमें नहीं बनती जिसआश्रमविधिमें अणुमात्र—थोड़ा सा—भी आरम्भ होता है। अतः उस अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये परम-करुणाभावसे सम्पन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूपसे उभय-प्रकारके परिग्रहको छोड़ा है—बाह्यमें वस्त्रालंकारादिक उपधियोंका और अन्त-रंगमें रागादिक भावोंका त्याग किया है—और फलतः परमब्रह्मकी सिद्धिको प्राप्त किया है। किन्तु जो विकृतवेष और उपधिमें रत हैं—यथाजातलिङ्गके विरोधी जटा-मुकट-धारण तथा भस्मोद्धूलनादि-रूप वेष और वस्त्र, आभूषण, अक्षमाला तथा मृगचर्मादिरूप उपधियोंमें आसक्त हैं—उन्होंने उस बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है।—और इस लिए ऐसोंसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकती है।'

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधि-रहितं शान्त-करणं
यतस्ते संचष्टे स्मर-शर-विषाऽऽतङ्क-विजयम् ।

विना भीमैः शस्त्रैरदय-हृदयाऽमर्ष-विलयं
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति-निलयः ॥५॥(१२०)

'(हे नमि-जिन !) आभूषण, वेष तथा व्यवधान (वस्त्र-प्रावरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको—अपने अपने विषयोंमें वांछा-की निवृत्तिको—लिये हुए आपका नग्न दिगम्बर शरीर चूँकि यह बतलाता है कि आपने कामदेवके बाणोंके विषसे होनेवाली चित्तकी पीडा अथवा अप्रतीकार व्याधिको जीता है और विना भयंकर शस्त्रोंके ही निर्दयहृदय क्रोधका विनाश किया है, इस लिये आप निर्मोह हैं और शान्ति-सुखके स्थान हैं। अतः हमारे शरण्य हैं—हम भी निर्मोह होना और शान्ति-सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, इसीसे हमने आपकी शरण ली है।'

२२

श्रीअरिष्टनेमि-जिन-स्तवन

भगवानृषिः परम-योग-
दहन-हुत-कल्मषेन्धनः ।
ज्ञान-विपुल-किरणैः सकलं
प्रतिबुध्य बुद्ध-कमलायतेक्षणः ॥१॥
हरिवंश-केतुरनवद्य-
विनय-दम-तीर्थ-नायकः ।

शील-जलधिरभवो विभव-
स्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

'विकसित-कमलदलके समान दीर्घ नेत्रोंके धारक और हरि-वंशमें ध्वजरूप हे अरिष्टनेमि-जिनेन्द्र ! आप भगवान्—सातिशयज्ञानवान्— ,ऋषि—ऋद्धिसम्पन्न—, और शीलसमुद्र—अठारह हज़ार शीलोंके धारक—हुए हैं; आपने परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञानावरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया है और ज्ञानकी विपुल (निरवशेष-द्योतनसमर्थ विस्तीर्ण) किरणोंसे सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोकको जानकर आप निर्दोष (मायादिरहित) विनय तथा दमरूप तीर्थके नायक हुए हैं—आपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और उपचाररूप पंच प्रकारके विनय तथा पंचेन्द्रिय-जयरूप पंचप्रकार दमनके प्रतिपादक प्रवचन-तीर्थका प्रवर्तन किया है। (साथ ही) आप जरासे रहित और भवसे विमुक्त हुए हैं।'

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-
किरण-विसरोपचुम्बितम् ।
पाद-युगलममलं भवतो
विकसत्कुशेशय-दलाऽरुणोदरम् ॥३॥
नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाऽति-
रुचिर-शिखराऽङ्गुलि-स्थलम् ।
स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः ॥४॥

'आपके उस निर्मल चरण-युगलको, जो (नत-मस्तक हुए) देवेन्द्रोंके मुकटोंकी मणियों और वज्रादिरत्नोंकी किरणोंके प्रसार-से उपचुम्बित है, जिसका उदर—पादतल—विकसित कमलदलके समान रक्तवर्ण है और जिसकी अंगुलियोंका उन्नत प्रदेश नख-रूप-चन्द्रमाओंकी किरणोंके परिमण्डलसे अति सुन्दर मालूम होता है, वे सुधी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महित-साधनमें दत्तचित्त हैं और जिनके मुखपर सदा स्तुति-मन्त्र रहते हैं।'

द्युतिमद्रथाङ्ग-रवि-बिम्ब-
किरण-जटिलांशुमण्डलः ।
नील-जलद-जल-राशि-वपुः
सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥५॥

हलभृच्च ते स्वजनभक्ति-
मुदित-हृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्म-विनय-रसिकौ सुतरां
चरणाऽरविन्द-युगलं प्रणेमतुः ॥६॥

'जिनके शरीरका दीप्तिमण्डल द्युतिको लिए हुए सुदर्शनचक्र-रूप रविमण्डलकी किरणोंसे जटिल है—संवलित है—और जिनका शरीर नीले कमल-दलोंकी राशिके समान श्यामवर्ण है उन गरुड-ध्वज—नारायण—और हलधर—बलभद्र—दोनों लोकनायकोंने, जो स्वजनभक्तिसे प्रमुदितचित्त थे और धर्मरूप विनयाचारके रसिक थे, आपके दोनों चरणकमलोंको बन्धु-जनोंके साथ बार बार प्रणाम किया है।'

ककुदं भुवः खचरयोषि-
दुषित-शिखरैरलङ्कृतः ।
मेघ-पटल-परिवीत-तट-
स्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥७॥

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च
सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो
भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥८॥

'जो पृथ्वीका ककुद है—बैलके कन्धेके समीप स्थित ककुद-नामक सर्वोपरिभाग जिस प्रकार शोभासम्पन्न होता है उसी प्रकार जो पृथ्वीके सब अवयवोंके ऊपर स्थित शोभा सम्पन्न उच्चस्थानकी गरिमाको प्राप्त है—विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित शिखरोंसे अलंकृत है और मेघपटलोंसे व्याप्त तटोंको लिये हुए है वह विश्रुत—लोकप्रसिद्ध—ऊर्जयन्त (गिरनार) नामका पर्वत (हे नेमिजन) इन्द्रद्वारा लिखे गये—उत्कीर्ण हुए—आपके चिन्होंको धारण करता है, इसलिए तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त ऋषियोंद्वारा सब ओरसे निरन्तर अतिसेवित है—भक्तिभरे ऋषिगण अपनी आत्मसिद्धिके लिये बड़े चावसे आपके उस पुण्यस्थानका आश्रय लेते रहते हैं।'

बहिरन्तरप्युभयथा च
करणमविघाति नाऽर्थकृत ।

नाथ! युगपदखिलं च सदा
त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥९॥
अत एव ते बुध-नुतस्य
चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
न्याय-विहितमवधार्य जिने
त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम्॥१०॥ (१३०)

'हे नाथ! आपने इस अखिल विश्वको—चराचर जगतको—सदा कर-तल-स्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना है, और आपके इस जाननेमें बाह्य करण—चक्षुरादिक—और अन्तःकरण—मन—ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते हैं। इसीसे हे बुधजन-स्तुत—अरिष्टनेमि जिन! आपके न्याय-विहित और अद्भुत उदय-सहित—समवसरणादि-विभूतिके प्रादुर्भावको लिये हुए—चरित-माहात्म्यको भले प्रकार अवधारण करके हम बड़े प्रसन्न-चित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।'

२३
श्रीपार्श्व-जिन-स्तवन

तमाल-नीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः
प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः ।

बलाहकैर्वैरि-वशैरुपद्रुतो
महामना यो न चचाल योगतः ॥१॥

'तमालवृक्षके समान नील-श्यामवर्णके धारक, इन्द्रधनुषों तथा विद्युद्गुणोंसे युक्त और भयङ्कर वज्र, वायु तथा वर्षाको सब ओर बखेरनेवाले ऐसे वैरि-वशवर्ती—कमठ शत्रुके इशारेपर नाचनेवाले—मेघोंसे उपद्रुत होनेपर—पीडित किये जानेपर—भी जो महामना योगसे—शुक्लध्यानसे—चलायमान नहीं हुए।'

बृहत्फणा-मण्डल-मण्डपेन
यं स्फुरत्तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं
विराग-संध्या-तडिदम्बुदो यथा ॥२॥

'जिन्हें उपसर्गप्राप्त होनेपर धरणेन्द्र नामके नागने चमकती हुई बिजलीकी पीत दीप्तिको लिये हुए बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे उसी प्रकार वेष्टित किया जिस प्रकार कृष्णसंध्यामें विद्युतोपलक्षित मेघ अथवा विविधवर्णोंकी संध्यारूप विद्युतसे उपलक्षित मेघ पर्वतको वेष्टित करता है।'

स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम्।
अवापदाऽऽर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं
त्रि-लोक-पूजाऽतिशयाऽऽस्पदं पदम् ॥३॥

'जिन्होंने अपने योग—शुक्लध्यान—रूप खड्गको तीक्ष्ण धारासे दुर्जय मोह-शत्रुका घात करके उस आर्हन्त्यपदको प्राप्त किया है जो कि अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष)का स्थान है।'

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्व-श्रम-वन्ध्य-बुद्धयः
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥४॥

'जिन्हें विधूतकल्मष—घातिकर्मचतुष्टयरूप पापसे रहित—, शमोपदेशक—मोक्षमार्गके उपदेष्टा—और ईश्वरके—सकल-लोक-प्रभुके—रूपमें देखकर वे (अन्यमतानुयायी) वनवासी तपस्वी भी शरणमें प्राप्त हुए—मोक्षमार्गमें लगे—जो अपने श्रमको—पंचाग्निसाधनादिरूप प्रयासको—विफल समझ गये थे और वैसे ही (भगवान् पार्श्व-जैसे विधूतकल्मष ईश्वर) होनेकी इच्छा रखते थे।'

स सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः
समग्रधीरुग्रकुलाऽम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते
विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः ॥५॥ (१३५)

'वे (उक्त गुणविशिष्ट) श्रीपार्श्वजिन मेरे द्वारा प्रणाम किये जाते हैं, जो कि सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता हैं, पूर्णबुद्धि—सर्वज्ञ—हैं, उग्रवंशरूप आकाशके चंद्रमा हैं और जिन्होंने मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्गकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होनेवाले विभ्रमोंको—सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप बुद्धि-विकारोंको—विनष्ट किया है—अथवा यों कहिए कि भव्यजन जिनके प्रसादसे सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गके उपदेशको पाकर अनेकान्त-दृष्टि बने हैं और सर्वथा एकान्त-वादि-मतोंके विभ्रमसे मुक्त हुए हैं।'

२४
श्रीवीर-जिन-स्तवन

कीर्त्या भुवि भासि तया
वीर ! त्वं गुण-समुत्थया भासितया ।
भासोडुसभाऽसितया
सोम इव व्योम्नि कुन्द-शोभाऽऽसितया ॥१॥

'हे वीर जिन ! आप उस निर्मलकीर्तिसे—ख्याति अथवा दिव्यवाणीसे—जो (आत्म-शरीर-गत) गुणोंसे समुद्भूत है, पृथ्वी-पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभा-स्थित उस प्रभा—दीप्तिसे शोभता है जो कि कुन्द-पुष्पोंकी शोभाके समान सब ओरसे धवल है ।'

तव जिन ! शासन-विभवो
जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः ।
दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति
चैनं प्रभा-कृशाऽऽसनविभवः ॥ २ ॥

'हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्त रहा है—. उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसारपरि-भ्रमण सदाके लिए छूटा है—इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुकोंकी तरह पीडाकारी

काम-क्रोधादि दोषोंको अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि-तेजसे जिन्होंने आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकोंको—निस्तेज किया है वे—गणधरदेवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते हैं।'

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाऽविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥३॥

'हे मुनिनाथ! 'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिए हुए आपका जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्ष—और इष्ट—आगमादिक—प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिये हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट-अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।'

त्वमसि सुराऽसुर-महितो
ग्रन्थिकसत्त्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः।
लोक-त्रय-परमहितो
ऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धाम-हितः ॥ ४ ॥

'(हे वीर जिन!) आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिकसत्त्वोंके—मिथ्यात्वादि-परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामसे पूजित नहीं हैं—भले ही वे ऊपरी प्रणामादिसे पूजा करें, वास्तवमें तो सम्यग्दृष्टियोंके ही आप पूजा-पात्र हैं। (किसी किसीके द्वारा पूजित न होनेपर भी) आप तीनों लोकके

प्राणियोंके लिए परमहितरूप हैं—राग-द्वेषादि-हिंसाभावोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण किसीके भी अहितकारी नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने आदर्शसे सभी भविकजनोंके आत्म-विकासमें सहायक हैं—, आवरणरहित ज्योतिको लिये हुए हैं—केवलज्ञानके धारक हैं—और उज्ज्वलधामको—मुक्तिस्थानको—प्राप्त हुए हैं अथवा अनावरण ज्योतियोंसे—केवलज्ञानके प्रकाशको लिए हुए मुक्तजीवोंसे—जो स्थान प्रकाशमान है उस को—सिद्धिशिलाको—प्राप्त हुए हैं।'

सभ्यानामभिरुचितं
दधासि गुण-भूषणं श्रिया चारु-चितम्।
मग्नं स्वस्यां रुचितं
जयसि च मृग-लाञ्छनं स्व-कान्त्या रुचितम् ॥५॥

'(हे वीर जिन!) आप उस गुणभूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादिरूप गुणोंके आभूषणोंको—धारण किए हुए हैं जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभा-स्थित भव्यजनोंको रुचिकर है—इष्ट है—और श्रीसे—अष्ट प्रातिहार्यादिरूप विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट है जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। और अपने शरीरकी कान्तिसे आप उस मृगलाञ्छन–चन्द्रमाको जीतते हैं जो अपनी दीप्तिमें मग्न है और सबको सुन्दर तथा प्यारा मालूम होता है—आपके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्ण चन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा है।'

त्वं जिन! गत-मद-माय-
स्तव भावानां मुमुक्षु-कामद! मायः।
श्रेयान् श्रीमदमाय-
स्त्वया समादेशि सप्रयाम-दमाऽयः ॥६॥

'मुमुक्षुओंको इच्छित प्रदान करनेवाले—उनकी मुक्ति-प्राप्तिमें परमसहायक—(हे वीर जिन !) आप मद और मायासे रहित हैं—अकषायभावको प्राप्त होनेसे निर्दोष हैं—,आपका जीवादि-पदार्थोंका परिज्ञान—केवलज्ञानरूप प्रमाण—(सकल बाधाओंसे रहित होनेके कारण) अतिशय प्रशंसनीय है, और आपने श्रीविशिष्ट—हेयोपादेय तत्त्वके परिज्ञान-लक्षणा लक्ष्मीसे युक्त—तथा कपट-रहित यम और दम-का—महाव्रतोंके अनुष्ठान तथा परम इन्द्रियजयका—उपदेश दिया है।'

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः।

तव शम-वादानवतो गतमूर्जितमपगत-प्रमादानवतः ॥७॥

' जिस प्रकार झरते हुए मदके दानी और गिरि-भित्तियों-पर्वत-कटनियों—का विदारण करनेवाले (महासामर्थ्यवान्) और श्रीमान्—सर्वलक्षणसम्पन्न उत्तम-जाति-विशिष्ट—गजेन्द्रका स्वाधीन गमन होता है उसी प्रकार परम अहिंसा-दान—अभयदान के दानी हे वीर जिन ! शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशान्तिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा करते हुए आपका उदार विहार हुआ है।—आपने अपने विहार-द्वारा जगत्को रागादिक दोषोंके शमनरूप परमब्रह्म—अहिंसाका, सद्दृष्टि-विधायक अनेकान्तवादका और समता-प्रस्थापक साम्य-वादका उपदेश दिया है, जो सब (अहिंसा,अनेकान्तवाद और साम्यवाद) लोकमें मद—अहंकारका त्याग, वैर—विरोधका परिहार और परस्परमें अभय-दानका विधान करके सर्वत्र शान्ति-सुखकी स्थापना करते हैं और इस लिये सन्मार्ग-स्वरूप हैं। साथ ही, वैषम्य-स्थापक, हिंसा-विधायक और सर्वथा एकान्त-प्रतिपादक उन सभी वादों—मतोंका खण्डन किया है जो गिरि-भित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे।'

बहुगुण-सम्पदसकलं
परमतमपि मधुर-वचन-विन्यास-कलम्।
नय-भक्त्यवतंस-कलं
तव देव! मतं समन्तभद्रं सकलम्॥ ८॥ (१४३)

'**हे वीर जिनदेव! जो परमत है**—आपके अनेकान्त-शासनसे भिन्न दूसरोंका शासन है—**वह मधुर वचनोंके विन्याससे**—कानोंको प्रिय मालूम देनेवाले वाक्योंकी रचनासे—**मनोज्ञ होता हुआ भी**—प्रकट रूपमें मनोहर तथा रुचिकर जान पड़ता हुआ भी—**बहुगुणोंकी सम्पत्तिसे विकल है**—सत्यशासनके योग्य जो यथार्थवादिता और पर-हितप्रतिपादनादि-रूप बहुतसे गुण हैं उनकी शोभासे रहित है—सर्वथैकान्तवादका आश्रय लेनेके कारण वे शोभन गुण उसमें नहीं पाये जाते—और इस लिए वह यथार्थ वस्तुके निरूपणादिमें असमर्थ होता हुआ वास्तवमें अपूर्ण, सबाध तथा जगत्के लिए अकल्याणकारी है। किन्तु **आपका मत—शासन—नयोंके भङ्ग**—स्यादस्ति-नास्त्यादि—**रूप अलंकारोंसे अलंकृत है अथवा नयोंकी भक्ति-उपासनारूप आभूषणको प्रदान करता है**—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर नयोंके सापेक्ष व्यवहारकी सुन्दर शिक्षा देता है—**और इस तरह**—यथार्थवस्तु-तत्त्वके निरूपण और परहित-प्रतिपादनादिमें समर्थ होता हुआ—**बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है,** (इसीसे) **पूर्ण है और समन्तभद्र है**—सब ओरसे भद्ररूप, निर्बाधतादि-विशिष्ट शोभासम्पन्न एवं जगतके लिए कल्याणकारी है।'

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति–सकलतार्किकचक्रचूडामणि–श्रद्धा-गुणज्ञतादिसातिशयगुणगणविभूषित–सिद्धसारस्वत–स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचितं चतुर्विंशतिजिनस्तवनात्मकं स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम्।

परिशिष्ट

१. स्वयम्भू-स्तवन-छन्द-सूची

स्तवनाङ्क	छन्दनाम	छन्दलक्षण
१	वंशस्थ	प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण, रगणके क्रमको लिये हुए द्वादशाक्षर (५,७) वृत्तका नाम 'वंशस्थ' है।
२	उपजाति	इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके चरणमिश्रणसे बना हुआ छन्द 'उपजाति' कहलाता है।
३	१,४ इन्द्रवज्रा. २ उपेन्द्रवज्रा. ३-५ उपजाति	प्रतिचरण तगण,तगण,जगण और अन्तमें दो गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक वृत्त-को 'इन्द्रवज्रा' कहते हैं और चरणारम्भमें गुरुके स्थान पर लघु अक्षर (जगण) हो तो वही 'उपेन्द्रवज्रा' हो जाता है।
४	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)

५१-४	उपजाति, ५ उपेन्द्रवज्रा	उपर्युक्त (२) " (३)
६-९	उपजाति	उपर्युक्त (२)
१०	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)
११	१, ४, ५, उपजाति २,३ उपेन्द्रवज्रा	उपर्युक्त (२) " (३)
१२	१,३,४, उपजाति, २ उपेन्द्रवज्रा ५ इन्द्रवज्रा	उपर्युक्त (२) " (३)
१३,१४	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)
१५	रथोद्धता	रगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक - चरण-वृत्त का नाम 'रथोद्धता' है।
१६	उपजाति	उपर्युक्त (२)
१७	वसन्ततिलका	तगण, भगण, जगण, जगण और अन्तमें दो गुरुके क्रमको लिये हुए चतुर्दश - वर्णात्मक (८,६) चरणवृत्तका नाम 'वसन्ततिलका' है।
१८	१-१८ पथ्यावक्त्र-अनुष्टुप् १९,२० सुभद्रिका-मालती-मिश्र-यमक	अनुष्टुप्के प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं, जिनमें ५वां लघु, ६ठा गुरु और ७ वां अक्षर समचरणों (२,४)

		में लघु तथा विषमचरणों (१,३) में गुरु होता है। और जिसके समचरणोंमें चार अक्षरोंके बाद 'जगण' हो उसे 'पथ्या-वक्त्र अनुष्टुप्' कहते हैं।
		नगण, नगण. रगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक चरणवृत्तका नाम 'सुभद्रिका' है और नगण, जगण, जगण, रगणके क्रमको लिए हुए द्वादशाक्षरात्मक चरणवृत्तका नाम 'मालती' है। इन दोनोंके चरण-मिश्रणसे बना हुआ छन्द 'सुभद्रिका-मालती-मिश्र - यमक' कहा जाता है।
१९	वानवासिका	जिसके प्रत्येक चरणमें १६ मात्राएँ और उनमें ९वीं तथा १२वीं मात्रा लघु हो उसे 'वानवासिका' छन्द कहते हैं।
२०	वैतालीय	जिसके प्रथम, तृतीय (विषम) चरणोंमें १४ और द्वितीय, चतुर्थ (सम) चरणोंमें १६ मात्राएँ होती हैं तथा विषम चरणोंमें ६ मात्राओंके और समचरणोंमें ८ मात्राओंके बाद क्रमशः 'रगण' तथा

		लघु-गुरु होते हैं उसे 'वैतालीय-वृत्त' कहते हैं।
२१	शिखरिणी	प्रत्येक चरणमें यगण मगण, तगण, सगण, भगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए सप्तदश (६.११) वर्णात्मक वृत्तका नाम 'शिखरिणी' है।
२२	उद्गता	जिसके प्रथमचरणमें क्रमशः सगण, जगण सगण और लघु, द्वितीय चरणमें नगण, सगण, जगण और गुरु, तृतीय चरणमें भगण, नगण, जगण और लघु-गुरु तथा चौथे चरणमें सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु हों उसे 'उद्गता' वृत्त कहते हैं।
२३	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)
२४	आर्य्यागीति (स्कन्धक)	जिसके विषमचरणोंमें १२-१२ और समचरणोंमें २०-२० मात्राएँ होती हैं उसे 'आर्यागीति' अथवा 'स्कन्धक' वृत्त कहते हैं।

गणलक्षण—आठगणोंमेंसे जिसके आदिमें गुरु वह 'भगण,' जिसके मध्यमें गुरु वह जगण', जिसके अन्तमें गुरु वह 'सगण,' जिसके आदिमें लघु वह 'यगण,' जिसके मध्यमें लघु वह 'रगण', जिसके अन्तमें लघु वह 'तगण,' जिसके तीनों वर्ण गुरु वह 'मगण' और जिसके तीनों वर्ण लघु वह 'नगण' कहलाता है। लघु एकमात्रिक और गुरु द्विमात्रिक होता है।

२. अर्हत्सम्बोधन-पदावली

स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके लिये जिन विशेषणपदोंका प्रयोग किया है उनका एक संग्रह स्तवन-क्रमसे प्रस्तावनामें दिया गया है और उसके देनेमें यह दृष्टि व्यक्त की गई है कि उससे अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उन (विशेषणपदों) का पाठ करनेपर सहजमें ही अवगत हो जाता है। यहाँपर उन सम्बोधन-पदोंका स्तोत्रक्रमसे एकत्र संग्रह दिया जाता है जिनसे स्वामीजी अपने इष्ट अर्हन्तदेवोंको पुकारते थे और जिन्हें स्वामीजीने अपने स्वयम्भू, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्तुतिविद्या नामके चार उपलब्ध स्तोत्रोंमें प्रयुक्त किया है। इससे भी अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए पाठ करनेपर और भी सामने आ जाता है। साथ ही, इससे पाठकों-को समन्तभद्रकी चित्तवृत्ति और रचना-चातुरीका कितना ही नया एवं विशेष अनुभव भी प्राप्त हो सकेगा। स्तुतिविद्याके अधिकांश सम्बोधनपद तो बड़े ही विचित्र, अनूठे, गम्भीर तथा अर्थगौरवको लिये हुए जान पड़ते हैं और वे सब संस्कृतभाषा-पर समन्तभद्रके एकाधिपत्यके सूचक हैं। उनके अर्थका कितना ही आभास स्तुतिविद्याके उस अनुवादपरसे हो सकेगा जो गत वर्ष वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हुआ है। शेष सम्बोधनपदोंका अर्थ सहज ही बोधगम्य है। एक स्तोत्रमें जो सम्बोधनपद एकसे अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं उन्हें उस स्तोत्रमें प्रथम प्रयोगके स्थान-पर ही पद्याङ्कके साथ ग्रहण किया गया है और अन्यत्र प्रयोगकी

सूचना ब्रेकटके भीतर पद्याङ्कोंको देकर की गई है। स्तुतिविद्याके सम्बोधनपदोंको स्तवनक्रमसे (स्तवनका नम्बर पैरेग्राफके शुरूमें ही देते हुए) रक्खा गया है और उनके स्थानकी सूचना पद्याङ्कों-द्वारा पद्यसम्बन्धी सम्बोधनपदोंके अन्तमें तथा ब्रेकटके भीतर उन्हें देकर की गई है।

१ स्वयम्भूमें प्रयुक्त पद—नाथ १४ (२५, ५७, ७५, ९६, १२९), आर्य १५ (४८, ६८). प्रभो २० (६९), सुविधे ४१, अनघ ४६, जिन ५० (११२, ११४, १३७, १४१), शीतल ५०, मुनीन्द्र ५६ (८५), महामुने ७०. धीर ७४ (९०, ९४), जिनवृष ७५, अरजिन १०४. वरद १०५. (कृतमदनिग्रह ११२), यते ११३, धीमन् ११७, भगवन् ११७, वीर १३६, मुनीश्वर १३८, मुमुक्षु-कामद १४१. देव १४३।

२ देवागममें प्रयुक्त पद—नाथ ८. मुनीन्द्र २०।

३ युक्त्यनुशासनमें प्रयुक्त पद—जिन २ (४, ६, ३०, ३४, ५२, ६४), वीर ३३. जिननाग ४४, मुने ५८।

४ स्तुतिविद्यामें प्रयुक्त सम्बोधनपद—

(१) नतपीलासन, अशोक, सुमनः, ऋषभ ५; आर्य (२६, ४७, ५४, ८८, ९२) ८; स्तुत १०; ईड्य, महोरुगुरवे १२; अतातिततोतोते, ततोततः १३; येयायायाययेयाय, नानानूनाननानन, अमम (९३), अमितातततीतिततीतितः १४; महिमाय, पद्मायास-हितायते १५।

(२) सदक्षर, अजर (८३. ११२), अजित, प्रभो (२७) १६; सदक्षराजराजित, प्रभोदय, तान्तमोह १७।

(३) वामेश (८६, ८८, ९८), एकार्च्य, शंभव १९; जिन (२३, ९१, ९२), अविभ्रम २०।

(४) अतमः, अभिनन्दन (२२ २३, २४) २१; नन्द्यनन्त-र्द्ध्यनन्त, इन (२४, २५, ७५, ८६, ८८, ९१, १०८, १११) २३; नन्दनस्वर २४।

(५) सुमते, दातः (९६) २५; देव (२८, ८३), अक्षयार्जव, वर्य (५४, ९८, ११०), अमानोरुगौरव २६।

(६) अपापापदमेयश्रीपादपद्म, पद्मप्रभ, मतिप्रद २७; विभो (८६, ८७), अजेय (७५, ९५), ततामित २८।

(८) एकस्वभाव ३५; शशिप्रभ ३६।

(९) अज (४४, ४६, ८६) ३७; नायक, सन्नजर ३८; अव्याधे, पुष्पदन्त, स्ववत्पते ३९; धीर (६३) ४०।

(१०) भूतनेत्र, पते ४१।

(११) तीर्थादे ४३; अपराग (४७), सहितावार्य ४६; श्रेयन् विदार्यसहित, समुत्सन्नजव ४७।

(१२) वासुपूज्य ४८।

(१३) अनेनः (१०८) ५२; नयमानक्षम, अमान (९३), आर्यार्तिनाशन, उरो, अरिमाय ५३।

(१४) वर्णभ, अतिनन्द्य, वन्द्य, अनन्त, सदारव, वरद, (११०), अतिनतार्याव, अतान्तसभार्णव ५४; नुन्नानृत (१०९), उन्नत, अनन्त ५५।

(१५) अबाध, दमेनर्द्ध, मत, धर्मप्रभ, गोधन, अनागः, धर्म, शर्मतमप्रद ५०; नतपाल, महाराज, गीत्यानुत, अक्षर (८४, ८६, ८९, ११२), मलपातन ५७; नाथ ६०; देवदेव ६२; स्थिर (८९), उदार ६३; ईडित, भगोः ६४।

(१६) बलाढ्य ६९; अधिपते ७०; बुधदेव ७१; संगतोहीन ७२; स्वसमान, भासमान, अनघ ७९।

(१७) अनिज ८१; नतयात, विदामीश, दावितयातन, रज-

सामन्त, असन्तमस ८३; पारावाररवार, क्षमाक्ष, वामानामनन, ऋद्ध (१०८) ८४।

(१८) वीरावार, अर, वरर, वीर ८५; चारुरुचानुत, अनशान (९१); उरुनम्र, विजरामय ८६; यमराज, विनम्रेन, रुजोनाशन, चारुरुचामीश ८७; स्वयं, स्वयमाय, आर्यस्वमायन, दमराज, ऋतवाद, नदेवार्तजरामद ८८; रक्षार, अदर, शूर ८९।

(२०) हानिहीन, अनन्त (१११), ज्ञानस्थानस्थ, आनतनन्दन ९१; पावन, अजितगोतेजः, वर, नानाव्रत, अक्षते, नानाश्चर्य, सुवीतागः, मुनिसुव्रत ९२।

(२१) नमे, अनामनमनः, नामनमन: ९३; नः, दयाभ, ऋतवागोद्य, गोवार्तभयार्दन, अनुनुत, नतामित ९५; स्वय, मेध्य, श्रिया नुतयाश्रित, दान्तेश, शुद्धयाऽमेय, स्वभीत ९६।

(२२) सद्यशः, अमेय, रुगुरो, यमेश, उद्यतमतानुत ९८।

(२३) ममतातीत, उत्तममतामृत, ततामितमते, तातमत, अतीतमृते, अमित १००।

(२४) वामदेव, क्षमाजेय, श्रीमते, वर्द्धमानाय, नमोन (१०४) १०३; श्रीम १०४; सुरानत १०७; वर्द्धमान, श्रेय १०८; नानानन्तनुतान्त, तान्तिननिनुन्, नुन्नान्त, नूतीनेन, नितान्ततानितनुते, नूतीननितान्ततानितनुते, निनूत, नुतानन १०९, वन्दारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव, वर्द्धिष्णो, विलसद्गुणार्णव, जगन्निर्वाणहेतो, शिव, वन्दीभूतसमस्तदेव, प्राज्ञैकदक्षस्तव, एकवन्द्य, अभव ११०; नष्टाज्ञान, मलोन, शासनगुरो, नष्टग्लान, सुमान, पावन, भामन, नत्येकेन, रुजोन, मज्जनपते, अवन, मज्जिन १११; रम्य, अपारगुण, अरजः, सुरवरैरर्च्य, श्रीधर, रत्यून, अरतिदूर, भासुर, अर्य, उत्तरर्द्धीश्वर, शरण्य, आधीर, सुधीर, विद्वर, गुरो ११२; तेजःपते ११४।

३. स्वयम्भूस्तोत्र-पद्यानुक्रमणी

वीरसेवामन्दिरके अन्य प्रकाशन

१ आप्तपरीक्षा—विद्यानंदकी स्वोपज्ञटीकायुक्त अपूर्वकृति, अनुवादादिसहित सजिल्द ८)

२ बनारसी-नाममाला—हिन्दी शब्दकोश, शब्दानुक्रमसहित ।)

३ श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—हिन्दी अनुवादादिसहित ।।।)

४ अनित्यभावना—हिन्दीपद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

५ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—ऐतिहासिक प्रस्तावनासहित ।)

६ प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—अनुवाद तथा व्याख्या-सहित ।)

७ सत्साधुस्मरण-मङ्गल पाठ—श्रीवीरवर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्यों के १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वका संग्रह, हिन्दी अनुवादादि-सहित ॥)

८ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—अनुवाद तथा बृहत्प्रस्तावना-सहित १॥)

९ शासन-चतुस्त्रिंशिका (तीर्थपरिचय)—अनुवाद सहित ।।।)

१० विवाह समुद्देश—विवाहका मार्मिक और तात्त्विक विवेचन, उसके अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई कठिन और जटिल समस्याओंको सुलझाता हुआ ॥)

११ न्यायदीपिका—संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृतप्रस्तावना अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ५)

१२ पुरातन-जैनवाक्य-सूची—(जैनप्राकृत पद्यानुक्रमणी)—अनेक उपयोगी परिशिष्टोंके साथ ६४ मूलग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके परिचयको लिये हुए विस्तृत प्रस्तावनासे अलंकृत, सजिल्द १५)

१३ स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, संस्कृतटीका, हिन्दी अनुवाद, अनेक चित्रालङ्कारों और महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत । १॥)

१४ युक्त्यनुशासन—समन्तभद्रकी असाधारण कृति जिसका, अभीतक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । विशिष्ट अनुवादसे अलंकृत १।)

१५ अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकांतको अतीवसरलतासे समझनेकी कुंजी ।)